किसान-राज

(पञ्चवर्षीय योजना)

प्रणेता—
प्रान्तपति
श्री पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल
एम. ए., एम. एल. ए. (केन्द्रीय)

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि०,
आगरा के लिए
साहित्य-रत्न-भण्डार
आगरा ने प्रकाशित की।

प्रथम संस्करण
१९४५
मूल्य २॥)

मिलने के अन्य पते—
१—साहित्य-रत्न-भण्डार,
आगरा।
२—रामप्रसाद एण्ड संस,

प्राक्कथन

श्रीकृष्णदत्त पालीवाल जी ग्राम समस्या और किसानों के मामलों के विशेषज्ञ हैं। युक्तप्रान्त में कांग्रेस-राज्य के समय ग्राम-सुधार का महकमा आपही के आधीन रक्खा गया था। हिन्दुस्तान के ही नहीं दूसरे देशों के किसानों के सम्बन्ध में भी आपने गम्भीर अध्ययन किया है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर आपके इस अध्ययन की छाप है। विभिन्न देशों की राज्य-प्रणालियों और शासन के इतिहास के प्रमाण दे देकर आपने यह सिद्ध किया है कि किसी भी देश में सुख और शान्ति तभी रह सकती है जब शासन की बागडोर किसानों के हाथ में हो। हिन्दुस्तान को स्वतंत्र और सुखी बनाने की जो योजना पालीवाल जी ने इस पुस्तक में प्रस्तुत की है वह राजनीतिक दृष्टि से जितनी ऊँची है, व्यावहारिक दृष्टि से उतनी ही उपादेय भी है। पिछले दो वर्ष में एक नहीं अनेकों योजनाएँ विविध मार्गों से सामने आई हैं। पालीवाल जी ने इन सब योजनाओं पर गम्भीरता से विचार किया है और उनकी न्यूनताओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए किसान-राज की अपनी योजना प्रस्तुत की है जो भारत की परिस्थितियों को देखते हुए उसके लिए सब से अधिक उपयुक्त मालूम होती है। आवश्यकता इस बात की है कि इस योजना की जानकारी सब ग्रामीणों को हो जाय और

उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि देश का कल्याण उन्हीं के किए हो सकता है। हमारा विश्वास है कि प्रत्येक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता इस पुस्तक को पढ़ कर अपने आपको अधिक बलशाली अनुभव करेगा और उसे काम करने के लिए नई स्फूर्ति और नव उत्साह प्राप्त होगा। पालीवाल जी की लेखन शैली अपनी अनूठी है, जिसके कारण राजनीति की जटिल समस्याओं को साधारण से साधारण खेतिहर भी बड़ी आसानी से समझ सकता है। ऐसी सुन्दर, सामयिक और ज्ञानपूर्ण पुस्तक का जोरों से स्वागत होगा—यह हमारा पूर्ण विश्वास है।

—महेन्द्र

विषय सूची

१- किसान-सुख-गाथा १

२- कष्ट-कथा ३१

३- [illegible] ६४

४- मुह दर मुंह १७६

किसान-गुण-गाथा

विश्व के विकास का इतिहास साक्षी है—किंनर किसान होकर ही नर बन सका। और अध्यात्मवाद के कथनानुसार किसान-पथ से ही वह नर से नारायण हो सकेगा।

धन्धे की दृष्टि से किसानी सर्वश्रेष्ठ धन्धा है। कहावत है, उत्तम खेती, मध्यम बंज। अधम चाकरी, भीख निदान। परन्तु किसानी केवल जीविका निर्वाह का एक साधन मात्र नहीं, वह प्रगति का पवित्र और परिपूर्ण, सुप्रमाणित पथ है। यह ध्रुव सत्य, मार्क्सवादी रूसी कृषि के इतिहास-कार पैवलोवस्की को इन शब्दों में स्वीकार करना पड़ा है—'किसानों की खेती केवल जीविका का साधन नहीं, वह जीवन का मार्ग है। शताब्दियों से मनुष्यों की बहुत भारी संख्या के लिये वह जीविका निर्वाह का साधन और जीवन-पथ-प्रदीप, दोनों रही है।"

चिरसृजनात्मक किसानों ने ही मानव समाज और मानवी सभ्यता तथा संस्कृति की सृष्टि की। वे ही उसके आदि और अटूट स्रोत हैं। और वे ही सामाजिक स्वावलम्बन के सुदृढ़-स्तम्भ। यूरोप के अर्वाचीन दार्शनिक—मुकट-मणि प्रो० ह्वाइटहैड का कहना है कि प्रगति की गति को सफलता पूर्वक वेग देने में कृषि को अत्युच्च स्थान देना पड़ेगा।

मानव समाज और मानव सभ्यता के आदिम-काल में यूरुप में मानवों को दो श्रेणियों में बाँटा गया था। एक वह जो घर द्वार हीन, कंजड़ों की तरह, शिकार वगैरह अथवा रोज की मिहनत मजदूरी से अपना जीवन-निर्वाह करते थे, जिनकी कोई स्थायी सम्पत्ति नहीं होती। ये नोमैड कहलाते थे। दूसरा—जो खेती या पशु-पालन द्वारा जीविकोपार्जन करते तथा ग्रामों में रहते थे। ये सैटिल्ड या सिविलाइज (सभ्य) कहलाते थे। हमारे यहाँ वैदिक ऋषियों ने भी यूरुप वासियों से कहीं पहले यही विभाजन किया था। वे पहले वर्ग के लोगों को व्रात्य कहते थे और दूसरे वर्ग के किसान वर्ग के लोगों को शालीन। "शालिभिः कृष्युत्पादितैः जीवंति, शालासु वसंति, सदाचारैः शालंते, इति शालीनाः।" यानी किसान होने के लिए खेती से पैदा हुये शालि धान्यादि से जीवन निर्वाह करना तथा ग्राम, नगरादि में शालाओं में रहना ही काफी नहीं था, सदाचार और शिष्टाचार भी अनिवार्यतः आवश्यक था। अर्थात् किसानों के साथ सभ्यता और सदाचार का सनातन सम्बन्ध माना गया था। कंजड़ों और शिकारियों का सा जीवन व्यतीत करने वाले वर्ग में से 'व्रात्य' वही कहलाते थे जो व्रात्यस्तोम द्वारा शालीन बनाये जा सकते हों, किसान पथ के पथिक हो सकते हों। किसानों ने मानव-समाज, मानव सभ्यता और मानव-संस्कृति का केवल शिलान्यास ही नहीं किया उसका सुन्दर सुविशाल भवन भी उन्होंने ही निर्मित किया।

आर्थिक श्रम-विभाजन और सामाजिक सुव्यवस्था पर तथा अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्तों पर आधारित वर्ण-व्यवस्था किसानों में ही सफलता के निकट पहुँच सकी है। किसानों में चारों वर्ण एक साथ निवास करते हैं। टाल्सटाय प्रभृति अनेक विद्वान-विचारकों का मत है कि धर्म-भाव और ब्रह्म-ज्ञान किसानों में जितना अधिक मिल सकता है उतना और कहीं नहीं। जर्मन विद्वान Heidgger आदि अनेक अध्यात्मवादियों ने मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया है कि धर्म और अध्यात्म की शिक्षा जितनी किसानों और खुले खेतों से मिलती है उतनी दर्शनों और दार्शनिकों से नहीं मिल सकती। ब्राह्मणों के स्वभावज कर्म, शम, दम, तप, क्षान्ति, आर्जव और ज्ञान-विज्ञान में आस्तिकता किसानों में जन्मना ब्राह्मणों से कहीं अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। जहाँ तक क्षात्र-धर्म से सम्बन्ध है वहाँ तक यह प्रसिद्ध ही है कि वर्दी पहन कर किसान ही सैनिक बन जाता है। संसार के सर्वश्रेष्ठ और सब से अधिक क्षत्री, सैनिक, किसानों में से ही पाये जाते हैं। और 'कृषि-गौरक्षा-वाणिज्य' को तो किसानी कहते ही हैं। अब रहा, सेवा-धर्म सो वह भी किसानों में किसी से कम नहीं है।

किसानों का मन और उनकी आत्मा की उड़ान ब्रह्मलोक तक ऊँची से ऊँची 'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते' तक है, परन्तु उनके पैर सदैव पृथिवी में गढ़े रहते हैं। वे सादा जीवन और उच्च-विचार के अन्यतम उदाहरण है। कारण, किसान और धरती माता का अविच्छेद सम्बन्ध है। किसान धरती पर पैदा होते

हैं, उसी पर फलते-फूलते हैं और उसी में मिल जाते हैं। शहरी लोगों की तरह किसान भूमि से उन्मूलित नहीं होते। उनकी जड़ें भूमि में गहरी घुली रहती हैं। यही कारण है कि जहाँ शहरी लोगों में पशु-जीवन के चिन्ह अधिक पाये जाते हैं वहाँ किसानों का जीवन वानस्पतिक अधिक होता है। जहाँ शहर में जाते ही किसान का दम घुटने लगता है वहाँ शहरी आदमी शहर की सड़क की पटरी पर मर जायगा लेकिन गाँव नहीं जायगा। किसान विराट-शरीर का अङ्ग ब्रह्माण्ड का एक पिण्ड होता है, शहरी उसका विजातीय द्रव्य। किसान विराट-सङ्गीत का एक स्वर है, वह विराट की ताल पर नाचता है। शहरी छन्दो भङ्ग है। किसानों का जीवन सादा, शान्त समन्वयी और आध्यात्मिक है, शहरियों का जटिल, चमक-दमक का तथा ऐन्द्रिक और द्वन्द्व-संघर्ष का।

निस्संदेह, भूमि से किसान का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। वह भूमि से बँधा हुआ, भूमि का दास है। प्रकृति पर निर्भर रहने के कारण ही वह देवताओं पर विश्वास करता है। वह भूमि की आज्ञा का उल्लंङ्घन नहीं कर सकता परन्तु साथ ही निश्चित है कि इसी कारण वह भूमि का स्वामी भी है। पृथिवी-पुत्र किसान ही पृथिवी का स्वामी है। किसान अपने शरीर के कण-कण से विश्वास करते हैं कि धरती उसी की है जो उसकी सेवा करे। अपने इस विश्वास को वे सनातन परम्परा और स्वयं-सिद्ध ईश्वरीय नियम मानते हैं। हाँ, रूसी किसान भी यही

मानते हैं। बोरीसन का कहना है कि रूस के किसानों ने अपने इष्टदेव सन्त-निकोलस से पूछा—'प्यारे निकोलस, भूमि, खेत और ग्राम, किसके होने चाहिये।' देवता ने उत्तर दिया—'मेरे भाइयो और बेटो, तुम्हारे और केवल तुम्हारे।'

पृथिवी-पुत्र होने के कारण किसान तथ्यों को ही नहीं सत्य को भी देखता है। इसीलिये उसमें वह दिव्य-दृष्टि-समझ-होती है जिससे वह वास्तविकता के सब से अधिक निकट होता है। नियति, रक्त और सृजन-शक्ति से लदे हुए किसान का जीवन पर शाश्वत प्रभुत्व है किसान जन People folk है, उन्मूलित ढेर mass नहीं। इसीलिए जहाँ शहरी भूमि की, देश की, उन सब परम्पराओं का शत्रु होता है जो उसकी संस्कृति के प्रतिनिधि होते हैं वहाँ किसान उनका संरक्षक होता है। मानव के सनातन प्रश्नों के सम्बन्ध में किसानों का दृष्टिकोण वास्तविक होता है। वह उन प्रश्नों से भागता नहीं, उनके अस्तित्व को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है और फिर जीवन में उन आदर्शों पर देशकालावस्था के अनुसार चलने का प्रयत्न करता है। योनि, समाज आदि महान और जटिल समस्याओं का हल किसान उसी वास्तविकता से करता है जिससे वह जीवनपर शासन करता है। उसका यह हल उसके सजग सहज ज्ञान पर आधारित होता है।

सर्व भक्षी शहर जहाँ गाँवों को खाकर बढ़ता है वहाँ किसान सब को भोजन देकर भोजन करता है। किसान है अमृताशी यज्ञ शेष पर निर्वाह करने वाला। शहरी आत्मकारणात

सब को हजम करने वाला पाप-भोजी पापी है। जहाँ शहर पनपता है, वहाँ आस पास का समस्त जीवन सूख जाता है। अर्थात शहर शोषक है किसान पोषक। किसान के पनपने पर सब पनपते हैं, शहर के पनपने पर शेष सब विनशते हैं। शहरी आत्मा इतिहास की भौतिक धारणा है। वास्तव में शहर भौतिकवादी होते हैं, उनमें आत्मा होती ही नहीं। वे भौतिक जगत की कार्य-कारण परम्परा से परे नहीं उठ सकते। उनकी सुरक्षा, बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्थादि सम्बन्धी बीमा योज-नाएँ इस बात की प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उनमें ईश्वर के प्रति विश्वास सर्वथा लुप्त हो जाता है और उसके साथ साथ आत्म विस्मृति तथा आत्म समर्पण का भाव और निशङ्क युवकोचित साहस ही तिरोहित हो जाता है।

किसानों ने ग्राम पंचायतों के रूप में जिस आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की प्राग्‌इतिहास काल में ही सृष्टि कर दी उसकी जोड़ की व्यवस्था सभ्यताभिमानी शहरी अब तक नहीं सोच सके। यह व्यवस्था समाज, सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठतम संस्थाएँ तथा साधन हैं। इस व्यवस्था का आर्थिक आधार, घरेलू उद्योग धन्धे हैं और सामाजिक राजनैतिक दृष्टि से स्वयंपर्याप्त तथा स्वयंशासित ग्रामों की व्यवस्था मानवता, भ्रातृभाव, समता, न्याय, शान्ति, सहयोग और स्वाधीनता की नींव है।

किसानों ने केवल समाज, सभ्यता और संस्कृति की सृष्टि ही नहीं की उसका भरण-पोषण और उसकी रक्षा भी की।

अर्वाचीन भारतवर्ष का इतिहास इस बात का विशेष रूप से साक्षी है। यों तो संसार भर में सर्वत्र शहरी सभ्यता विनाशकारी और विध्वंसात्मक है तथा ग्रामीण सभ्यता कल्याणकारी और सर्वहित सम्पादक। किसान किसी भी वर्ग की डिक्टेटरशिप नहीं चाहता। वह लोकतन्त्रीय शासन, स्वशासन, स्वभाग्य-निर्णय, प्रत्येक ग्राम का स्वराज्य, पञ्चायती राज, जनता का राज चाहता है। परन्तु भारतवर्ष को दो सौ वर्ष से साम्राज्यवाद की सुदृढ़ लौह-शृंखलाओं में जकड़ कर भी सत्यानाशी पाश्चात्य-सभ्यता भारतीय समाज के ऊपर के प्रस्तर तक ही अंशतः प्रवेश कर पाई। इसका एक मात्र कारण ग्रामीण सभ्यता, किसानों की धर्म-रक्षिणी शक्ति ही है। आज भी भारत की देह कितनी ही जकड़ी हुई क्यों न हो, उसका स्वस्थ और सबल हृदय गाँवों में सुरक्षित है।

संसार में समता, सद्भ्रातृता और स्वाधीनता की, लोकतंत्र, स्थायी शान्ति और सच्ची स्वतंत्रता की स्थापना किसानों के बल पर, ग्राम्य-स्वराज्य की व्यवस्था द्वारा ही हो सकेगी। संसार भर की, मानव-मात्र की चौमुखी स्वाधीनता की कुञ्जी त्रिराष्ट्रों रूस, इङ्गलैंड और अमेरिका और उसके वर्तमान नायकों स्टालिन, चर्चिल और रूजवेल्ट के पास नहीं किसानों के पास है। नवीन विश्व-व्यवस्था विश्व भर में सब से स्थायी शान्ति लोकतंत्र और स्वाधीनता की व्यवस्था, ग्राम-स्वराज्य के आधार पर ही स्थापित हो सकती है। ग्रामीण घरेलू धन्धों में आर्थिक लोकतन्त्र उसी प्रकार विराजमान रहता है जिस

तरह भक्तों के हृदय में भगवान। ग्राम-स्वराज्य, पञ्चायती राज में शक्ति और नौकरशाही के नियंत्रण तथा व्यवस्थापिका, कार्य कारिणी और न्याय कारिणी शक्तियों के सामञ्जस्य की समस्या भी सहज ही हल हो जाती है। स्वयं मार्क्स ने किसानों की लोकतन्त्रीय शक्ति को स्वीकार किया है। सच बात यह है कि यदि शक्ति का अर्थ संहार और कला का अर्थ विलास नहीं है तो संतप्त संसार को नवजीवन का निर्देश किसान-जीवन-पथ से ही मिलेगा।

किसान का रुख-मुख 'प्रभुता' की ओर नहीं, प्रभु की ओर है। वह राजनीति से विरक्त नहीं, आत्मानुभूति में अनुरक्त है। वह लोक में रह कर परलोक को सिद्ध करता है। वह जिस अव्यक्त की गति देहियों को दुःख से होती है, उसकी प्राप्ति अव्यक्तासक्त चेतसां वालों के अधिकतर क्लेश वाले मार्ग से न करके प्रत्यक्षावगम धर्म सुसुख राज-मार्ग से करता है। जिससे भूतों को प्रवृत्ति मिली है, तथा जिससे यह सब है उसकी अपने कर्मों से अर्चना करके वह सिद्धि प्राप्त करता है। वह जगत की सेवा द्वारा जगदीश की सेवा करता है। सर्वभूत हित-रति से ही आत्म-रति का अक्षय आनन्द प्राप्त करता है। जनता ही उसका जनार्दन है।

प्रत्येक किसान जीवित बोधि सत्व है। वह उस समय तक अपनी मुक्ति कदापि नहीं चाहता जब तक अखिल विश्व का एक कण भी परमाणु बंधन में है। वह जनता जनार्दन की सेवा द्वारा

ही नर से नारायण होने के लिये प्रयत्नशील है। न तो वह कोरे ब्रह्मवादियों की तरह अति-प्रश्नों पर माथा पच्ची ही करता है, और न भौतिकवादियों की तरह आत्मा-परमात्मा के प्रति अपनी श्रद्धा तथा अपना विश्वास ही खोता है। वह कर्मयोगी की तरह स्वभाव नियत कर्म करता रहता है। स्वधर्म का पालन करने में वह कभी नहीं चूकता।

श्रद्धालु होता हुआ भी किसान बुद्धि की, तर्क की, विवेक की, स्वतन्त्र-चिन्तन की अवहेलना नहीं करता। हाँ, वह व्यवसाया-त्मिका बुद्धि को स्थिर और वासनात्मक बुद्धि को शुद्ध करने की अनिवार्य आवश्यकता को अवश्य कदापि नहीं भूलता। किसान चित्त-शुद्धि और सदाचार का हामी होता है क्योंकि वह जानता है कि वासना की दासी बुद्धि के निर्णय कभी सही, शुद्ध और स्वतन्त्र नहीं हो सकते। शुद्ध बुद्धि में ही वह मानव का त्राण और कल्याण देखता है।

आज समस्त संसार में धर्म और विज्ञान के पार्थक्य और विरोध के कारण त्राहि-त्राहि मची हुई है। सभ्य कहलाने वाले देश सर्वनाश की सड़क पर सरपट दौड़े जा रहे हैं। संसार के सर्वमान्य विचारक इसी कारण धर्म और विज्ञान के समुच्चय की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। जार्ज बर्नार्डशा का कहना है कि इतिहास की भावी गति-विधि इस पर निर्भर रहेगी कि धर्म और विज्ञान का परस्पर क्या सम्बन्ध रहे? धर्म और विज्ञान का यह वाँछनीय समुच्चय ग्राम्य-सभ्यता में सुचारु

रूप से और सहज ही हो सकता है। यूरुप में धार्मिक प्रभाव का जो ह्रास दिखाई दे रहा है उसका मुख्य कारण यही है कि वहाँ की सभ्यता शहरी सभ्यता है। जर्मनी और इङ्गलैण्ड में जहाँ की अस्सी फीसदी से ऊपर आबादी शहरों में रहती है, शान्ति, लोकतन्त्र और स्वाधीनता ढूँढ़ने पर भी नहीं दिखाई देती। अमेरिका जितना अधिक शहरी होता जा रहा है उतना ही अधिक अपने प्रारम्भिक स्वाधीनता प्रेम से सुदूर चला जा रहा है। रूस में औद्योगीकरण के बाद भी जो कुछ गनीमत है वह किसानों के कारण। कौन नहीं जानता कि वहाँ पच्चीस वर्ष के धर्म विरोधी एक छत्र शासन के बाद भी धर्म भाव नहीं मिटा, यह केवल किसानों के कारण।

किसान विश्लेषणात्मक न होकर समुच्चयात्मक है। उसे यह बताने के लिए किसी डार्विन की आवश्यकता नहीं कि मनुष्यों का तन ही नहीं मन भी भिन्न भिन्न होता है। करोड़ों मनुष्यों में भी किसी दो का चेहरा बिल्कुल एक-सा नहीं होता। वह स्वयं यह जानता है कि पाँचों उँगली एक-सी नहीं होतीं। परन्तु इस भेद-भाव को स्वीकार करते हुए भी वह भिन्नता में छिपी हुई एकता को नहीं भूलता। वह जानता है कि 'सर्वं सम्बद्ध सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदा।' इसीलिए समस्त भेद-भावों को स्वीकार करके भी वह अपने को छोड़ कर सब के विनाश का कार्यक्रम नहीं बनाता बल्कि सर्वोदय के सिद्धान्त को, सर्वभूत हित-रति के आदर्श को तथा सहयोग और सहचारिता के नियमों को अपनाता है। जङ्गलों में वह परस्पर

एक दूसरे पर अवलम्बित Species जातियों के सङ्गठन की विजय को देखता है। वह डार्विन के जीवन-संघर्ष के अर्धसत्य सिद्धान्त पर न चल कर प्रिंस क्रोपाटकिन के अधिक सत्य पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त को अपना जीवन-सिद्धान्त बनाता है। वह यह जानता है कि संसार के इतिहास में विजय उनकी नहीं हुई जिन्होंने हिंसा या रचात्मक शक्तियों में विशेषता उपार्जित की। शक्ति के सत्वर प्रयोग में कोई ऐसी बात है जो स्वयं उसके उद्देश्य को विफल कर देती है। इसका मुख्य दोष यह है कि उसमें स्वेच्छा प्रेरित सहयोग के लिये स्थान तथा अवसर नहीं रहता। किसान यह जानता है कि भौतिकवादी पाश्चात्य संसार में भी, शेर मारे जाते हैं और गौएँ पाली जाती हैं।

किसान अपने सहज ज्ञान से ही यह जानता है कि जीवन-संघर्ष के सिद्धान्त को मानने वाले डार्विन ने ही अपनी The descent or origin of man (मनुष्य की उत्पत्ति) नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक के दोसौ तीनवें पृष्ठ पर यह कहा है कि सदाचार का उच्चादर्श व्यक्ति के लिए तात्कालिक भले ही लाभ प्रदान न करें परन्तु एक tribe जाति के लिए दूसरी ऐसी जाति के मुकाबिले में ब्रह्मास्त्र सिद्ध होता है जिसमें सदाचार की तुलनात्मक कमी हो। इसीलिए किसानों का जीवन-व्रत है कि वे प्रत्येक देवता को, विश्व और समाज की समस्त प्रगति-पोषक शक्तियों को उनका यज्ञ-भाग देते हैं। इसमें वे चोरी नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि परस्परं भावयन्तः ही सबके सब श्रेय को प्राप्त होंगे। यज्ञ भावित देवता ही इष्ट-भोग प्रदान करेंगे।

गीता व बाल्मीकि रामायण में वर्णित दैवी सम्पत् किसानों में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। किसानों की सम्पत् महायंत्रादि प्रधान शहरों की आसुरी सम्पत् से सर्वथा भिन्न होती है। इसीलिए किसान साम्यवाद, वर्गवाद, समाजवाद को न अपना कर सर्वोदयवाद को आत्म-त्याग, सर्वभूतानुकम्पा, लोक-ज्ञान, पालन-पोषण के मार्ग को स्वीकार करता है।

किसान की स्वाधीनता भी स्वच्छन्द स्वेछाचारिता न होकर संयम नियम के छन्दों से बद्ध सच्ची स्वाधीनता होती है। किसानों की स्वाधीनता के माने हैं कि प्रत्येक type ढाँचे के भीतर सम्पूर्ण समाज के व्यापक हितों को व्याघात पहुंचाये बिना ही सहयोग और सहचारिता का साम्राज्य रहे।

किसान यह जानता है कि प्रत्येक वस्तु thing का अपना स्वधर्म—स्वभाव नियत कर्म—होता है और स्वतन्त्रता के माने अपने स्वधर्म की पूर्ति करने की स्वतन्त्रता ही है। स्वतन्त्रता हमारे अपने स्वधर्म से ही प्रवाहित होती है। जब हम स्वधर्म का पालन करते हैं तभी स्वतन्त्र होते हैं। स्वधर्म को पहचानने और उसका पालन करने वाला व्यक्ति ही वास्तविक व्यक्ति होता है और वास्तविक पुरुष ही स्वतन्त्र हो सकता है।

विकास और प्रगति की गति नर तक पहुंचकर ही नहीं रुक जाती। श्रेणी-हीन समाज की स्थापना के बाद प्रगति की गति कैसे होगी और किस दिशा में होगी इन प्रश्नों का उत्तर अध्यात्मिक प्रगतिवाद ही देता है। पुराण भौतिकवाद, वैज्ञानिक

भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के पास इनका कोई उत्तर नहीं।

स्पष्ट है कि विकास और प्रगति की प्रक्रिया नर के नारायण होने पर ही पूरी हो सकती है। नर विकास और प्रगति की प्रक्रिया का मध्य-बिन्दु है, अन्त नहीं और नर से नारायण होने की प्रक्रिया की पूर्ति के लिए किसान-पथ ही राज-पथ है।

इतिहास का यह चक्र लौटाया नहीं जा सकता। प्रगति की गति रोकी नहीं जा सकती। आध्यात्मिक जीवन की ओर मनुष्य की उन्नति बन्द नहीं हो सकती।

इसीलिए किसान की शक्ति महान् है। इसीलिए प्रकृति-पुत्र अमर किसान प्रकृति-माता ही की तरह अमर है। मानव-समाज का इतिहास पग-पग पर पुकार-पुकार कर कह रहा है कि जीवन समर में सदैव किसानों का अभ्युदय हुआ है। उनकी प्राण-शक्ति अपरिमित है। अपनी विश्व इतिहास की रूप-रेखा (out line of history) में सातसौ दस वें सफे पर एच० जी० वैल्स ने लिखा है कि चौदहवीं सदी से जब से फ्रांस जर्मनी और इङ्गलैण्ड में किसान-युद्ध हुए तब से किसानों के संघर्षों में बहुत से उलट-फेर हुए। उनके अनेक विद्रोह हुए। वे कभी कुचल दिये गये। कभी उनसे समझौता किया गया तथा कभी उन्हें थोड़ी-बहुत सान्त्वना दे दी गई लेकिन तब से लेकर आज तक किसानों के संघर्ष पूर्णतया बन्द कभी नहीं हुए। बड़े-बड़े राजनैतिक झंझावात आये, साम्राज्य स्थापित हुए और

तिरोहित भी हो गये। इनमें किसानों और उनके बालबच्चों तक की कुटी कर दी गई। फिर भी किसान जीवित रहे।

किसान केवल साधुओं का परित्राण ही नहीं करते वे दुष्टों का विनाश भी उतनी ही सफलता-पूर्वक करते हैं। वे मानव-समाज, सभ्यता और संस्कृति के सृजक और संरक्षक, जनक और पोषक ही नहीं, प्रगति-विरोधी शक्तियों के संहारक भी हैं। अर्थात् किसानों में विकास और प्रगति का कर्ता धर्ता संहर्ता ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों की शक्ति है। सदाशिव, और सदाशिव का उपासक किसान यह भली भाँति जानता है कि शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है। शक्ति के बिना शिव शव (मृतक) है। वास्तव में शिव और शक्ति में पार्थक्य नहीं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति रूप धारण करते हैं। शिव सदा शक्ति के साथ मिल कर रहते हैं।

किसानों को क्रान्ति-विरोधी, प्रतिक्रिया-बादी अथवा शक्ति तथा साधनहीन मानना प्रत्यक्ष सत्य से आँख मूँद लेना है। मानवेतिहास में किसानों ने अनेक बार सफल क्रान्तियाँ की हैं और अनेक बार ही उन्होंने मानवेतिहास की गति को तथा भ्रान्तिपूर्ण क्रान्तियों को सफलता-पूर्वक रोक दिया है।

इतिहास में इस बात के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं कि क्रान्ति करने की शक्ति नङ्गों-भूखों में उतनी नहीं होती जितनी आसूदा खाते-पीते किसानों में होती है! कारण यह है कि भूखों

और नङ्गों में वह कस (Stamina) नहीं होता जो आसूदा-किसानों में होता है। मार्क्स के अनन्य मित्र फ्रेडरिक ऐंगिल्स ने अपनी Peasent war in Germany नामक पुस्तक में इस मत को व्यक्त किया है और भारत-सरकार के ग्राम-समस्याओं के विशेषज्ञ माल्कम ल्याल डार्लिङ्ग आई० सी० एस० ने अपनी The Punjab peasant in prosperity & debt नामक पुस्तक में एक सौ पचानवे सफे पर इस मत की पुष्टि की है। उन्होंने कहा है कि जब खाते-पीते किसान अति गरीब होने लगते हैं तब न केवल उनमें अपनी वेदनाओं को अनुभव करने की शक्ति ही क्षीण हो जाती बल्कि उनमें विद्रोह की भावना भी अपरिहार्य हो जाती है। फ्रांस और जर्मनी की किसान क्रान्तियों में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। भारत के भी उन्होंने दो प्रमाण दिये हैं। एक बारदोली के किसान-सत्याग्रह का और दूसरा पञ्जाब के होशियारपुर तथा जालन्धर के दो समृद्ध जिलों के बब्बर अकालियों की हलचल का। दोनों जगहों के किसान खाते-पीते और आसूदा थे।

इसके विपरीत बङ्गाल के १९४३ के अकाल का प्रमाण है। वहाँ बीसियों लाख ग़रीब भूखों मर गये लेकिन उन्होंने विद्रोह तो दूर फुटपुट उपद्रव तक नहीं किये।

लेनिन ने रूस की १९०५ की असफल क्रान्ति का वर्णन करते हुए यह माना है कि वहाँ उस समय किसानों का विद्रोह राजनैतिक, वर्ग-चेतना पूर्ण और यौवनपूर्ण था। कुल रूस के एक तिहाई जिलों में किसानों के उपद्रव हुए। सात फीसदी के

करीब जमीदारों की जायदादें नष्ट कर दी गईं। उन्होंने बड़े-बड़े जमीदारों पर हमले किये। उनकी कोठियों में आग लगा दी। उनकी खत्तियाँ लूट लीं। इस किसान क्रान्ति की संचालक शक्तियाँ, उसके ढङ्ग और उसकी रण-नीति वर्ग-क्रान्ति के प्रकार की थीं।

किसानों की इसी शक्ति को देख कर क्रान्ति-सञ्चालन-नीति-निपुण लेनिन ने मार्क्सवाद में यह नई बात बढ़ा दी कि मजदूरों की क्रान्ति को किसानों के युद्ध के साथ मिला दिया जाना चाहिए। इस बात को स्वयं जिनोविव ने १९२२ में कहा था। रूस की राज्यक्रान्ति के इतिहास से मालूम होता है कि वहाँ के किसानों ने न केवल किसान-क्रान्ति, एकाकी, बिना किसी के सहायता के की बल्कि नवम्बर की बोल्शेविक क्रान्ति भी उन्होंने ही की।

कुमारी हैलन डौगलास इरविन ने अपनी The making of Rural Europe नामक पुस्तक में लिखा है कि:—

"हमारे शहर निवासी इस बात को बिल्कुल ही भूल गये हैं कि वे जमीन पर रहते हैं। उनकी इस विस्मृति से भारी राष्ट्रीय सङ्कट की आशङ्का है क्योंकि आज कल की बड़ी-बड़ी हलचलें किसानों की हलचलें ही हैं और वे खुले खेतों के भूमिज Elemental कर्त्तव्य-शास्त्र से स्फूर्त्ति पाकर शहर वालों की उपेक्षा कर के बढ़ी चली जायँगी।.........प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८) के बाद यूरुप में जो कुछ हुआ उससे किसानों की महान विजय और पूँजीपति और कम्यूनिस्त दोनों की

महान पराजय हुई है। एक प्रकार की भयानक चुप्पी में किसानों ने बोल्शेविज्म और उसके जुड़वाँ भाई बड़े व्यवसाय से शब्द-हीन परन्तु विशाल और घमासान युद्ध किया है और उस युद्ध में पूर्ण विजय प्राप्त की है। बोल्शेविज्म ने जो कोई उनके सामने आया उन सब को चकनाचूर कर दिया लेकिन जब गरीब किसानों की वैयक्तिक सम्पत्ति के साथ उनकी टक्कर हुई तब उसका भैंसा बैठ गया। रूस में बोल्शेविक सरकार बोल्शेविज्म को छोड़ कर ही जीवित रह सकी।" (पृष्ठ ८-९)

कुमारी इरविन के इस कथन की सत्यता रूस में सोवियत शासन के इतिहास से भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। किसानों के विरोध से विवश होकर ही लेनिन को नई आर्थिक नीति चलानी पड़ी। किसानों की शक्ति को स्वीकार करके ही स्तालिन को अब तक किसानों का वैयक्तिक सम्पत्ति और वैयक्तिक व्यापार का अधिकार मानना पड़ा।

अपनी उपर्युक्त पुस्तक के बारहवें अध्याय में कुमारी इरविन ने प्रथम महायुद्ध के बाद यूरुप में होने वाली क्रान्तियों का विशद ऐतिहासिक वर्णन किया है। उनका कहना है कि ये क्रान्तियाँ मुख्यतः केन्द्रीय और पूर्वीय यूरुप में हुईं क्योंकि यहीं किसानों की आबादी ज्यादा थी। कुमारी इरविन की राय में ये किसान-क्रान्तियाँ रूस की बोल्शेविक क्रान्ति से कम महत्व-पूर्ण नहीं थी परन्तु चूंकि शहरी यूरुप में ग्रामों की घटनाओं की उपेक्षा की जाती है और शहरी घटनाओं को अत्यधिक महत्व दिया जाता है इसलिये रूस की क्रान्ति का बेतहाशा विज्ञा-

पन हुआ और किसान-क्रान्तियों की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया। किसानों की ये क्रान्तियाँ केन्द्रीय और पूर्वीय यूरुप तक ही सीमित नहीं रहीं। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बाल्कन और रूस में भी किसानों की विजय-दुन्दुभी बजी। कुमारी इरविन का कहना है कि जमींदारों के मुकाबिले में किसान संख्या जन-बल में कहीं अधिक होते ही हैं। जमींदार तो परम्परागत सैनिक और कृत्रिम शक्तियों के सहारे उन पर हावी हो जाते हैं। महान युद्धों के बाद ज्योंही ये शक्तियाँ शिथिल होती हैं त्योंही जमींदार किसानों के सामने नपुंसक हो जाते हैं।

किसान, भूमिहीन खेतिहरों की तरह वर्ग-चेतना शून्य भी नहीं होता। उन्हें अपने वर्ग के हित और उसकी महत्वाकांक्षायें ही संसार में सब से अधिक प्रिय हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद हंगरी में छोटे किसानों की पार्टी उतनी ही शक्तिशाली होगई थी जितनी वहाँ की और कोई पार्टी। आस्ट्रिया की पार्लियामेंट में किसानों की कारगर विरोधी पार्टी थी। चैकोस्लोवैक पार्लियामेंट में कई महत्वपूर्ण दल प्रधानतया किसानों के ही दल थे। पोलैन्ड की डाइट में किसानों का बहु-मत हो गया और जब से किसानों के किसान नेता कारएलोरीज ने तुर्कों से सर्बिया का एक प्रदेश वापस जीत लिया तब से वहाँ किसानों का राज कायम हुआ। १९२१ में जुगोस्लेविया की पार्लियामेंट में क्रोटिया के तिरानवें मेम्बरों में से उनचालीस किसान थे। बल्गेरिया की पार्लियामेंट में किसान पार्टी का भारी बहुमत था। यहाँ किसानों का ही मन्त्रि-मण्डल था और

किसानों का नेता ही प्रधानमंत्री। रूमानियाँ में किसान प्रभाव-शाली होगये थे। बाल्टिक रियासतों में किसानों ने वहाँ के कभी अति शक्तिशाली बैरनों की रियासतें छीन कर आपस में बाँट लीं। जर्मनी में भी किसानों की बहुत शक्ति बढ़ी। वहाँ के बलगेरिया प्रान्त में किसान सर्व शक्तिमान थे। इन सब देशों में किसानों के अधिकारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इन सब परिवर्तनों का उद्देश एक ही था। यानी बड़े-बड़े जमीदारों की जमीदारियाँ छीन कर उन्हें किसानों तथा भूमि हीन काश्तकारों में बाँटना। सब जगह जबरदस्ती (अनिवार्य) जमीदारियाँ छीनने का सिद्धान्त माना गया। हर जगह जमीदारों के लिए एक मुनासिब रकबा मुकर्रर कर दिया गया कि इससे ज्यादा जमीन के वे मालिक नहीं रह सकते। आम तौर पर जिन जमीदारों की जमीदारियाँ छीनी गईं, उन्हें मुनासिब हर्जाना भी दिलाया गया जिसे जमीन पाने वाले किसानों ने कई सालों में छोटी-छोटी किश्तों में अदा किया। जमीदारों के लिए छोड़ी गई जमीन का रकबा हर देश में वहाँ की अवस्था के अनुकूल नियत किया गया।

किसानों की बाबत यह सोचना कि वे अवसर मिलने पर भी उन्नति नहीं करते या कर सकते अथवा यह कि सदा से ही उन्होंने गुलामी की जिन्दगी व्यतीत की है भारी भ्रम है। रोम के इतिहास से मालूम होता है कि वहाँ किसानों की इतनी इज्जत थी कि किसान शब्द ईमानदारी का पर्यायवाची हो गया था।

किसी को ईमानदार कहना होता था तो यह कहा जाता था कि वह किसान है।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश से ही यूरोपीय देशों में किसानों के प्रति नया रुख और नया बर्ताव दिखाई देने लगा था। किसानों की आवाज़ उनके देशों के राज-काज में सुनी जाने लगी। जर्मनी, डैन्मार्क और आयर्लैण्ड में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक प्रबल थी। फ्रांस, इटली, हौलैण्ड, बेल्जियम और स्विटजरलैण्ड में किसानों ने आश्चर्यजनक उन्नति की। और वहाँ की सरकारें किसानों के मामले में बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का परिचय देने लगीं। जर्मनी की तत्कालीन सरकार तरह-तरह से अपने देश के किसानों की सहायता करती थी।

अमेरिका में वहाँ के किसानों को अपनी उन्नति करने का कुछ अवसर मिला। फल स्वरूप वहाँ किसानों ने अत्यन्त उन्नति कर दिखाई। वहाँ के जिन किसानों के पास इतनी जोत थी कि जिसकी पैदावार से वे अपने परिवार का सुचारु रूप से पालन-पोषण कर सकें वहाँ के किसान सबसे अधिक बुद्धिमान ग्राम-नागरिक सिद्ध हुए। इन किसानों की सभाओं ने उद्योग और धन्धों में भी अपनी अपूर्व नेतृत्व-शक्ति का परिचय दिया। एक अमेरिकन लेखक ने किसानों के बारे में यह ठीक ही लिखा है कि किसान शरीर से स्वस्थ, बुद्धि से तीव्र, सदाचारों के शुद्ध और आत्मा में मैत्री पूर्ण होते हैं। संसार के अन्य अनेक विद्वानों ने भी किसानों की बुद्धि और बुद्धिमत्ता (Wisdom & Intelligence) की प्रशंसा की है।

एच. हैसैल टिल्टमैन (H. Hessel Tiltman) की किसान-युरुप (Peasant Europe) कुमारी इरविन की पुस्तक के बाद की सन् १९३४ की किताब है। इसमें उन्होंने बताया है कि आज भी यदि कुल यूरुप की आबादी जोड़ी जाय तो उसमें आधे से ज्यादा किसान निकलेंगे।

उनका कहना है कि पूर्वी यूरुप में विचारशील किसानों का ध्यान फैसिज्म युद्ध के डर और संसार व्यापी संकट की तरफ न होकर अपने अपने देशों के पुलिस, राज और सुनिश्चित दानवी दमन की तरफ है जिससे लाखों किसान कुचले जा रहे हैं। इस दमन के फल स्वरूप किसान फिर अपनी सुनहरी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को पुनर्जीवित करने के स्वप्न देखने लगे हैं। जिसका स्वप्न पहले पहल सन् १९२४ में बलगेरिया के स्तानबुलिस्के (Stan-buliske) ने देखा था।

उनका कहना है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण बात में किसान-प्रदेश एक देश है। राजनैतिक हदबन्दियाँ इधर-उधर भले ही होती रहें और भले ही वे एक हद तक जातीय भेद-भावों की द्योतक हों परन्तु वे इससे अधिक और कुछ नहीं। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि-कोण से किसान एक हैं, उनके हित, उनके आदर्श और उनकी समस्याएँ एक हैं। काले सागर से लेकर बाल्टिक सागर तक के बीच के प्रदेश में रहने वाले करोड़ों किसान एक ही क्रूर तथा कठोर संसार में रहते हैं। फ्राँस, जर्मनी जैसे पाश्चिमी देशों में वहाँ की सरकारें धन्धों की सहायता से या धन्धों के हितों को किसानों के हितों पर निछावर करके अपने यहाँ के किसानों

की रक्षा भलेही करें परन्तु असली किसान प्रदेशों में वायना, प्रेग और जर्मनी की सीमा तक किसान ही सरकार हैं।

यूरुप में न केवल किसान संख्या में ही आधे से अधिक हैं परन्तु दिन प्रति दिन उनकी आबादी और उनका महत्व बढ़ता जा रहा है। बलोरिया, हंगरी, पोलैंड, रूमानियाँ, जैकोस्लोवेकिया इत्यादि में आबादी खूब बढ़ रही है और इन सब देशों में आबादी की वृद्धि गाँवों में ही हो रही है, और किसानों की शक्ति तथा उनके सङ्गठन बल पकड़ते जा रहे हैं।

आस्ट्रिया में वहाँ का कृषि-विभाग का मिनिस्टर हाथेलन पशु-पालक किसानों के हितों के लिए लड़ने वाला किसान नेता था। वह किसान संग्राम के हित में मिनिस्ट्री छोड़ कर अपने अनुयायियों के साथ पहाड़ों में जा बसा और वहाँ उनकी स्वाधीनता की रक्षा तथा स्वाधीनता संग्राम का सञ्चालन करता रहा। लोअर आस्ट्रिया में अपनी जमीन के मालिक किसानों का ज़बरदस्त सङ्गठन है। उसका सभापति डाक्टर व्यूरेस वहाँ का फाइनैंस मिनिस्टर और चांसलर रहा। आस्ट्रिया के सुप्रसिद्ध डाक्टर डालफस जेबी डिक्टेटर ने अपने राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ इसी संस्था के मन्त्री की हैसियत से किया।

सर्व क्रोट और स्लोवन आदर्श किसान-भूस्वामी होते हैं। क्रोटिया में किसान आन्दोलन इतना प्रचंड है कि सव्वे फीसदी किसानों की आबादी वाले इस देश में किसानान्दोलन ग़ैर-क़ानूनी करार देकर कुचला गया। उनका नेता स्टीफनरैडिक १९२२ में गोली से मार दिया गया। उसके उत्तराधिकारी नेता

डाक्टर मैकक पर कई बार मुकदमे चलाये गये और सजा दी गई। क्रोटे का राष्ट्रीय झण्डा फहराने की मुमानियत कर दी गई फिर भी वह प्रत्येक क्रोट किसान की कुटी पर रैडिक के फोटो के साथ फहराता रहा। सरकार उसे बन्द करने में असमर्थ रही। १९२७ के चुनाव में क्रोटिया से चुने जाने वाले पार्लिया-मेन्ट के सरसठ मेम्बरों में से तिरेसठ किसान पार्टी के थे।

बल्गेरिया किसान जमींदारों का देश है। वहाँ करीब-करीब सभी खेतों पर उन्हीं लोगों का कब्जा है जो उन्हें जोतते हैं। खेत और गाँव ही वहाँ के किसानों का विश्व है। जिस भूमि को किसान जोतता है उसके प्रति प्रेम उसकी हड्डी-हड्डी में समाया है। वह धरती को माता समझता है तथा उसका एक इञ्च भी बेचना पाप समझता है। वहाँ की सरकार किसानों की इस मनोवृत्ति को जानती है तथा उनके जीवन के प्रश्नों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए हर तरह से उनकी सहायता करती है।

रूमानियाँ में चार सुधार-कानूनों द्वारा भूमि किसानों को बाँटी जा चुकी है। बँटवारा करते समय ईंधन और चरागाह के लिए भी काफी भूमि छोड़ दी गई है। फिर भी यहाँ के किसान सन्तुष्ट नहीं हैं। ये पार्लियामेण्टरी पद्धति द्वारा सुधारों की आशा छोड़ चुके हैं और अपनी खुरपी के बल पर अपने अधि-कारों की रक्षा करने को तैयार हो सकते हैं।

हंगरी में भी आधी से ज्यादा जोतों पर किसानों का कब्जा है। वहाँ की सरकार ने कुछ भूमि पर आम जायदाद टैक्स

लगा कर और कुछ को जबरदस्ती क़ानून द्वारा जमींदारों से छीन कर किसानों को बाँट दिया है।

प्रथम योरोपीय महायुद्ध के बाद पोलैण्ड में तीन लाख किसानों को नई जमीन पर कब्जा दिया गया। यहाँ के किसान अपने राष्ट्रीय नेता मकुइडस्की से बहुत प्रेम करते थे। १६३४ तक जर्मनी में हिटलर कितना लोक-प्रिय था मकुइडस्की पोलण्ड में उससे भी अधिक लोक-प्रिय था। उकरान के किसान अपने अधिकारों के लिए अहिंसात्मक संग्राम से काम ले रहे थे। १६३४ तक उनका यह आन्दोलन दबाया नहीं जा सका था।

अपनी उपयुक्त पुस्तक के बारहवें अध्याय में टिल्टमैन साहब ने किसानों की हरी क्रान्ति का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि १६१४ से लेकर १६३३ तक यूरुप के अनेक देशों में जो क्रान्तियाँ हुईं उनसे एक बड़ा ही दिलचस्प सबक यह मिलता है कि क्रान्ति करने वालों को क्रान्ति से बहुत कम लाभ हुआ।

मार्क्सवादी और पूँजीवादी दोनों ही अपने को बहुत बुद्धिमान और किसानों को निरा बुद्धू समझते हैं। अपनी आपस की लड़ाई में दोनों ही किसानों को अपने चंगुल में फँसा कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं परन्तु बुद्धू किसानों ने दोनों ही को उल्लू बनाया है। वे पूँजीशाही और मजदूर-शाही दोनों से भरपूर लाभ उठाते हैं और दोनों के संघर्षों से अलग रह कर उन संघर्षों के फलस्वरूप होने वाले सुधारों से अपना हित सम्पादन करते हैं।

१६१८ में आस्ट्रिया-हंगरी और जर्मनी में शहरों में रहने

वाले मज़दूरों ने क्रान्तियाँ कीं। किसान चुपचाप हाथ पर हाथ रक्खे हुए आराम के साथ तमाशा देखते रहे। लेकिन आज इन देशों के लाल झण्डे वाले मजदूर कहाँ हैं? उनके नेता और उनकी पार्टियाँ खत्म कर दी गईं। उनके मज़दूर-संघ तोड़ दिये गये तथा उनके फण्ड ज़ब्त कर लिये गये।

लेकिन केन्द्रीय, दक्षिणी और पूर्वी यूरोप के किसान आज भी अपनी जमीन के मालिक हैं और अपने आर्थिक तथा राज-नैतिक अधिकारों को भोग रहे हैं। कल के आधे गुलाम किसान आज इन देशों में करीब-करीब पूरे मालिक हैं। हिटलर-मुसोलिनी जैसे डिक्टेटरों ने अपनी सत्ता किसानों के बल पर ही कायम की। किसानों को खुश करने के लिये मुसोलिनी तो यहाँ तक शेखी मारा करता था कि मैं किसान हूँ। मैंने अपने पैत्रिक खेतों पर यह पत्थर लगा रक्खा है कि मुसोलिनी-परिवार की कई शाखों ने इन खेतों को अपने हाथों से जोता-बोया है।

प्रथम महायुद्ध तक यूरुप में मार्क्स की भविष्य-वाणी पूरी हो रही थी यानी किसान-वर्ग का ह्रास हो रहा था। उनकी आबादी कम हो रही थी। ग्राम ऊजड़ हो रहे थे। किसान गाँवों को छोड़ कर शहरों को भाग रहे थे। बंजर खेत शिकारगाह बन रहे थे। परन्तु युद्ध के बाद यह प्रक्रिया बदली। युद्धोत्तर क्रान्तियाँ और मध्य यूरुप के व्यक्तियों ने शहर निवासियों पर विपत्ति के पहाड़ ढहा दिये। इससे किसानों की उन्नति हुई। नाज महँगा हुआ। उनकी आबादी और उनका आर्थिक महत्व तथा राजनैतिक प्रभाव बढ़ने लगा।

अब तो यह बात आमतौर पर मानी जाती है कि केन्द्रीय और दक्षिण पूर्वीय यूरुप के प्रत्येक देश की आर्थिक और राजनैतिक जीवन की रीढ़ किसान ही हैं। इन देशों की प्रत्येक पार्लियामेंट और हर डिक्टेटर के लिये यह आवश्यक है कि किसानों को खुश रक्खे और राष्ट्रीय नीति किसानों की दुर्दमनीय शक्ति के अनुकूल बनावें। इन देशों में व्यापारी मण्डलों (चैम्बरों) की तरह किसान-मण्डल भी स्थापित किये गये हैं।

जैसे कम्यूनिस्ट और समाजवादी यह चाहते हैं कि पहले किसानों को अपने साथ लेकर उनकी मदद से शक्ति अपने हाथ में लेलें और फिर किसानों को भी सर्वहारा बना दें वैसे ही किसानों ने भी पूँजीपतियों और खास तौर पर जमीदारों के शोषण तथा दमन से अपने को बचाने के लिए उपर्युक्त पार्टियों की मदद ली लेकिन जब उन्हें जमीन मिल गई तब वे अपने स्वतन्त्र मार्ग पर चलने लगे। और जब कम्यूनिस्टों ने भूमि का राष्ट्रीय-करण करना चाहा तब किसानों ने उनका बड़ा मुकाबिला किया और अब वे कम्यूनिस्टों की इस नीति के कारण ही सर्वत्र उनसे सशंक तथा उनके इस उद्देश की पूर्ति के मार्ग में सब से बड़ी बाधा हो गये हैं। इतने बड़े बाधक कि कहीं-कहीं तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वे तानाशाहियों के सहायक हो गये।

अपने खेतों के प्रति किसानों का प्रेम आज भी उतना ही प्रचण्ड है जितना आज से हजारों बरस पहले था। वे अपनी भूमि और अपने पशुओं को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार

करते हैं। सोवियट रूस की एक मनोरञ्जक घटना से किसानों की इस मनोवृत्ति का बहुत ही जीता-जागता प्रमाण मिलता है। एक सोवियट प्रचारक ने चिकित्सा और आरोग्यता पर ज़ोर देने के लिए किसानों से कहा कि आप अपने परिवार वालों के जीवन की उतनी भी परवा नहीं करते जितनी घोड़े के जीवन की। वास्तव में, किसान अपने एक घायल बुड्ढे को जंगल में ही छोड़ आये थे और घायल घोड़े को ले आये थे। लेकिन किसानों ने इस भर्त्सना के उत्तर में गम्भीरता पूर्वक यह कहा कि, निस्संदेह घोड़ा मनुष्य से अधिक मूल्यवान है, मनुष्य तो हम हमेशा पैदा करते रहते हैं लेकिन तुम घोड़ा पैदा कर के ही दिखाओ ?

किसानों के मार्ग में एक जबरदस्त कठिनाई भी है और वह यह है कि उनका व्यापक सङ्गठन उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता जितना मजदूरों का। इसीलिए उनकी हरी अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूरों की लाल अन्तर्राष्ट्रीय की तरह सफल न हो सकी। फिर भी अब किसान पहले से किसान नहीं रहे हैं। कभी न बदलने वाले किसान बदल रहे हैं। वे स्वयं स्वतन्त्र रूप से सोचने लगे हैं और उनमें राजनैतिक जागरण की लहर आ गई है। वे यह अनुभव करने लगे हैं कि सब किसानों के हित और सब किसानों का ध्येय एक ही है। अब अपने बच्चों की शिक्षा का उन्हें बहुत अधिक ध्यान है। वे सहयोग की तरफ बढ़ रहे हैं। उन्हें अपनी राजनैतिक शक्ति का ज्ञान हो गया है। टिल्टमैन साहब को यह स्वीकार करना पड़ा है कि मानवेतिहास में

किसानों की निष्क्रिय-प्रतिरोध की शक्ति का कोई मुकाबिला नहीं कर सकता।

किसानों के अभ्युदय से कुछ लोगों को यह भय है कि चूँकि किसान देश-भक्त और राष्ट्रीयता-प्रेमी होते हैं इसलिए कहीं अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व-सङ्घ और वसुधैव कुटुम्बकम् की ओर प्रगति में बाधा न पड़े। परन्तु यह भय निर्मूल है। किसानों की राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की अड़चन न होकर उसकी सीढ़ी है। किसानों का अन्तिम ध्येय तो 'स्वदेशोभुवनमयम्' है। हाँ, अगर कोई साहब साम्राज्यवाद और मजदूर शाही को ही अन्तर्राष्ट्रीयता मान बैठें तो दूसरी बात है।

किसानों का यह पुनरुज्जीवन यूरुप तक ही सीमित नहीं है। बल्कि, सच बात तो यह है कि किसानों की शक्ति और उनकी जाग्रति पूरब में पश्चिम से कहीं अधिक है। वास्तव में पूरब में अभी पश्चिम के ढङ्ग का उद्योगीकरण न होने के कारण अभी तक यहाँ की समस्या मुख्यतः किसानों की ही समस्या है। 'संसार ऐक्य' (World unity) नामक पत्र में हंस कोहन (Hans Kohn) ने १९३२ में लिखा था:—

'पूर्वीय देशों में जो महान सामाजिक संघर्ष हो रहे हैं वे कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के संघर्ष नहीं हैं बल्कि किसानों की स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले संग्राम हैं। बोल्शेविक प्रचारकों ने चीन में यह देख लिया है कि सामाजिक क्रान्ति के संघर्षों की पूरबी देशों में सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ किसानों की मदद रूस से भी ज्यादा ली जाय। पूरबी देशों

में आबादी बराबर बढ़ रही है और ज्यों-ज्यों आबादी बढ़ती जाती है त्यों-त्यों जमीन पर दबाव और खेतों की माँग भी बढ़ती जाती है। पूरबी देशों में करों का भार ज्यादातर किसानों पर ही पड़ता है। इन देशों में लगान और मालगुजारी ही सरकारी आमदनी का मुख्य आधार है। किसानों का कर्ज़ा भी दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है।'

भारत का किसान भी किसी से पीछे नहीं। खेती के काम में वह उतना ही हुशियार है जितना किसी भी देश का किसान। डाक्टर वोइल्कर ने भारत के किसानों की प्रशंसा की है। सर जान रशल ने भी यह माना है कि हिन्दुस्तान के किसान उतने ही अच्छे हैं जितने संसार के अन्य किसी भी देश के किसान। हिन्द-सरकार ने भी अपने एक नोट में कहा है कि आमतौर पर हिन्दुस्तान का किसान भी उतना ही धीर, मेहनती और बहुत-सी हालतों में चतुर किसान है जितना दुनिया के परदे पर किसी भी देश का किसान।

और हिन्दुस्तान वास्तव में किसानिस्तान है। हिन्दुस्तान की समस्या किसानों की समस्या है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने यह ठीक ही कहा है कि कारखानों के मजदूरों के दृष्टि-कोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नहीं मिल सकता। यहाँ तो राष्ट्रवाद और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बड़े सवाल हैं। यूरुप का समाजवाद इनके बारे में शायद ही कुछ जानता हो।

रूस में महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत कुछ मिलती-जुलती है लेकिन वहाँ तो बहुत ही असाधारण और

गैर-मामूली घटनाएँ घटीं। वैसी ही घटनाएँ दूसरी जगह भी होंगी यह उम्मेद करना मूर्खता होगी। कम्यूनिज्म के तत्वज्ञान से किसी भी देश की विद्यमान परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेषण करने में सहायता मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है परन्तु उस तत्वज्ञान को, वास्तविकता और अवस्था का समुचित ध्यान रक्खे विना, अन्धे की तरह सर्वत्र लागू करना उस तत्वज्ञान के साथ बलात्कार और अन्याय करना होगा।

महात्मा गांधी ने तो स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि भारत का उद्धार किसानों के हाथ होगा—धनी, वकील, डाक्टर और जमीदारों के किये नहीं। हिन्दू-मुस्लिम परिगणित जातियाँ और देशी नरेशादि के साम्प्रदायिक तथा विशेष समस्याओं का हल भी किसानों के ही हाथ में है क्योंकि नव्वे फीसदी के करीब परिगणित जातियाँ किसान ही हैं और देशी राज्यों तथा मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों में भी भारी बहुमत किसानों का ही है।

माना, किसान अभी साधक हैं, सिद्ध नहीं। अभी स्वभावतः आदर्शों और व्यवहार में महान अन्तर है। और साधकों में भी उच्चतम से लेकर निम्नतम तक सभी प्रकार की सहस्रशः श्रेणियाँ हैं। फिर भी पथ के दावेदारों की कमियों से पथ की परिष्कृतता में कोई कमी नहीं आती। पथ ठीक है तो पथ-भ्रष्टों को सन्मार्ग पर लाने का ही सवाल बाकी रह जाता है और वह कोई उतना कठिन काम नहीं है।

कष्ट-कथा

किसानों की कष्ट-कथा अकथ है—उसका कोई ओर-छोर नहीं। सबके अन्नदाता, सबके प्राण-रक्षक तथा मानव समाज, सभ्यता और संस्कृति के स्रष्टा किसानों के साथ जो व्यवहार हो रहा है वह विधि की विडम्बना का अद्वितीय उदाहरण है।

परन्तु किसान, धरतीमाता को ही तरह सर्वसहा हैं। हजारों ही बरस से वे गरीबी और गुलामी, दमन और शोषण, अज्ञान और विज्ञान के शिकार रहे हैं। संसार में सर्वत्र उनके साथ गूँगे बैलों जैसा ही वर्ताव किया गया है।

आङ्गल अर्थशास्त्र के आचार्य डाक्टर मार्शल ने यह ठीक ही कहा है कि गरीबी सबसे बड़ा अभिशाप है। गरीबी के कारण किसान स्वयं अपनी जिन्दगी से पशुओं की जिन्दगी अधिक बहुमूल्य समझते हैं। पञ्जाब के भूतपूर्व गवर्नर और अब समाजवादी जान मैनार्ड साहब ने अपनी प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण पुस्तक "रूसी किसान" (The Russian Peasant & Studies) में १७५ वें पृष्ठ पर लिखा है कि किसान अपने परिवार या अपनी बीबी के स्वास्थ्य की चिन्ता से कहीं अधिक चिन्ता अपने घोड़े या अपनी गाय के स्वास्थ्य की करता है। वह कहता है, आदमी तो हम में से कोई भी पैदा कर सकता है लेकिन जरा घोड़ी तो पैदा करके दिखाओ?

ग़रीबी के कारण किसानों को स्वयं अपनी देह और आत्मा ही नहीं, अपनी बहू-बेटी तक बेचनी पड़ती हैं। मौरिस हिन्दस् ने 'उन्मूलित किसान' नामक पुस्तक में यह दिखाया है कि जीविका की खोज में गाँव छोड़ कर शहर आने वाले किसानों की बहू-बेटियों को किस तरह अपना पेट भरने के लिये वेश्या बनना पड़ता है! अप्टन सिनक्लेयर ने भी समाज के इस काले पहलू का बहुत ही सजीव चित्र अपने उपन्यासों में खींचा है। ग़रीबी के कारण ही किसान चोरी-डकैती आदि अपराध करते हैं और उनकी ग़रीबी के लिए ज़िम्मेदार पापी समाज उन्हें जेलखानों में बन्द करके उन्हें हमेशा के लिए 'अपराधी' बना देता है। ग़रीबी के कारण ही वह तरह-तरह के अन्यायों से अपनी रक्षा करने में असमर्थ होता है और वह सब के शोषण तथा दमन का शिकार होता है। उसे सभी का गुलाम होकर रहना पड़ता है।

यों तो कुछ सम्मानीय अपवादों को छोड़ कर, संसार भर के किसान, न्यूनाधिक मात्रा में ग़रीब ही हैं परन्तु हिन्दुस्तान के किसानों की ग़रीबी का तो कोई मुकाबिला ही नहीं कर सकता। कनाडा और संयुक्तप्रदेश अमेरिका में एक मामूली मज़दूर हफ्ते भर में जितना कमा लेता है उतना हिन्दुस्तानी किसान साल भर में भी नहीं कमा पाता। हर हिन्दुस्तानी की कूती हुई औसत आमदनी से संयुक्त प्रदेश अमेरिका निवासी प्रत्येक व्यक्ति की आमदनी तीस गुनी है और ग्रेट ब्रिटेन वालों की बीस गुनी। यह ग़रीबी

किसानों की जीवन-संगिनी होती है। किसान गरीबी में पैदा होकर गरीबी में ही अपनी मुसीबतज़दा ज़िन्दगी के दुःखमय दिन काट कर गरीबी में ही मर जाता है और मरते वक्त भी अपने बाल-बच्चों को गरीबी का अभिशाप दे जाता है। हिन्दुस्थान की सरकार की तरफ से ब्रिटिश पार्लियामेंट को हर साल हिन्दुस्थान की नैतिक और भौतिक दशा की एक रिपोर्ट "हिन्दुस्थान" अमुक सन् में शीर्षक से पेश की जाती है। १९२९-१९३० की इस रिपोर्ट में यह लिखा हुआ है कि हिन्दुस्थान के गाँव निवासियों की सबसे बड़ी और खास खसूसियत उनकी गरीबी ही है। यह साफ तौर पर एक वाक़या है कि हिन्दुस्थान के निवासियों का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसी किस्म की गरीबी से घिरा हुआ है कि पश्चिमी मुल्कों में जिसकी मिसाल ही नहीं मिल सकती। १९३०-३१ की रिपोर्ट में लिखा है कि अमूमन गाँव निवासियों की सब से बड़ी विशेषता उनकी गरीबी ही है। गरीब किसानों का रहन-सहन बहुत ही नीचे दरजे का है। ऐसी भुखमरी में बीमारियों से रक्षा करने की शक्ति कहाँ? फलस्वरूप वे तरह-तरह की बीमारियों के शिकार होते हैं और हर साल लाखों मक्खियों की मौत मरते हैं।

डाक्टर राधाकमल मुकर्जी ने अपनी Fried and Farmer in Oudh नाम की पुस्तक में लिखा है कि चार एकड़ जमीन से पाँच आदमियों के किसान परवार का भी इस तरह गुजारा नहीं हो सकता कि जिससे वे ज़रा भी आराम से ज़िन्दगी बिता सकें और अपनी क्षमता कायम रख सकें। लेकिन हरदोई जिले के

मालीपारा गाँव में किसान परिवार की औसत सात आदमियों की है। इसमें से सौ पीछे छियासठ यानी दो तिहाई की औसत जोत चार एकड़ से भी कम है। नतीजा, असह्य कष्ट और बेहद ग़रीबी !

The preasure of population नामक पुस्तक के दूसरे तीसरे पृष्ठ पर अन्वेषी लेखक ने लिखा है कि गोरखपुर जिले में एक गाँव में औसत सिर्फ आधी एकड़ है। इतनी छोटी जोतों में बैलों की जगह फावड़ों से खेत जोता जाने लगा है। अगर यही हालत रही तो चीन की तरह हिन्दुस्तान में भी बैलों और भैसों की जगह औरतें जोती जायँगी। इसी पुस्तक के छब्बीसवें पृष्ठ पर यह लिखा है कि गोरखपुर के बेलनपुर गाँव में एक औरत वाकई बैल की जगह हल में जुती हुई देखी गई।

संयुक्त-प्रान्त की सरकार ने १९२६ के शाही कृषि-कमीशन के सामने अपने प्रान्त में कृषि की दशा पर एक रिपोर्ट पेश की थी उसके दूसरे अध्याय में यह लिखा है कि दूध सिर्फ खुशहाल लोगों के लिए ज़रूरी माना जाता है! ग़रीबों के लिए दूध विलासिता की चीज़ है। इसी रिपोर्ट के चौदहवें अध्याय में लिखा है कि बालकों की मृत्युसंख्या बहुत ज्यादा है। हर साल हज़ारों बच्चे जन्म लेने के साल भर के अन्दर ही काल के कौर हो जाते हैं और "बच्चों की बीमारी, कमजोरी और मौत का एक बड़ा कारण दूध की कमी है।" किसान इतने ग़रीब हैं कि वे मलेरिया से अपने प्राण बचाने के लिए कुनैन तक नहीं खरीद सकते। यू० पी० के स्वास्थ्य-विभाग के भूतपूर्व डाइरैक्टर मिस्टर

डन ने यह स्वीकार किया था कि कुनैन की कीमत किसानों के लिए बहुत ज्यादा है।

सूबे हिन्द की १६२६-३० की बैंकों की जाँच-कमेटी का कहना है कि इस सूबे के किसानों की ज्यादा तादाद ऐसी है जिन्हें अपनी ज़िन्दगी लगातार एक फसल से दूसरी फसल तक का आसरा ताकने में ही बितानी पड़ती है। इनका रहन-सहन बहुत ही नीचे दरजे का है। तीस फीसदी किसान आर्थिक सतह से नीचे रहते हैं। ये अच्छी से अच्छी फसल होने पर भी अपना तथा अपने परिवार का पेट नहीं भर सकते। बावन फीसदी आर्थिक सतह से ज़रा ऊपर रहते हैं। अच्छी फसल होने पर इनका काम चल जाता है लेकिन फसल बिगड़ने पर इनकी जिन्दगी भी दूभर हो जाती है। सिर्फ अठारह फीसदी खुशहाल माने जा सकते हैं। सो वे भी सिर्फ सबसे गरीब मुल्क हिन्दुस्तान के भी सबसे ग़रीब सूबे संयुक्तप्रान्त में, अत्यन्त नीचे रहन-सहन के मापदण्ड से ही खुशहाल माने जाते थे! किसान इतने ग़रीब हैं कि कानपुर कृषि कालेज के प्रिन्सीपल एच मार्टिन लीक के कथनानुसार नाज होते हुए भी, नाज पैदा करने वाले किसान तथा उनके बालबच्चे पैसा पास न होने की वजह से भूखों मर जाते हैं।

मिस्टर आरननॉल्ड लप्टन ने अपनी हैपी इण्डिया नामक पुस्तक (पृष्ठ ४५) में लिखा है कि हिन्दुस्तान के किसान इतने ग़रीब हैं कि उनके मुकाबिले में अँग्रेज भिखारियों को अच्छा

खाना मिलता है। औसतन अंग्रेज भिखारी को न सिर्फ हिन्दुस्तान के किसान से खाना ही बहतर मिलता है बल्कि उसके पहनने के कपड़े और रहने का मकान भी बहतर होता है। ज्यादातर हिन्दुस्तानी किसानों की हालत अंग्रेज भिखारियों से भी बदतर है।

इटावा के एक भूतपूर्व कलक्टर मिस्टर एलैक्जैण्डर का कहना है कि साधारण सालों में भी किसानों को चार महीने बौहरे से क़र्ज़ लेकर खाना पड़ता है। एक सरकारी रिपोर्ट का कहना है कि किसानों की जोतें छोटी-छोटी हैं। इन जोतों की पैदावार से छः महीने से ज्यादा गुज़ारा नहीं हो सकता। बाकी छः महीने क़र्ज़ से काटने पड़ते हैं। और यू० पी० की बैङ्किङ्ग जाँच कमेटी के शब्दों में एक दफ़ा क़र्ज़ लेने पर किसान हमेशा कर्ज के दलदल में दिन पर दिन गहरा धसकता जाता है जिससे मौत ही उसका पीछा छुड़ाती है। लेकिन मौत भी सिर्फ उसी का पीछा छुड़ाती है क्योंकि उसकी जगह उसके वारिसों की जान कर्ज के कटहरे में फँस जाती है।

डाक्टर एस० एस० नेहरू आई० सी० एस० ने अपनी (Baste and Credit in india) नामक पुस्तक में लिखा है कि किसानों पर जितना क़र्ज़ है वह अनिवार्य है। सोलहों आने अनिवार्य। अगर हम यह याद रक्खें कि किसान को सुबह खाकर शाम की फिकर रहती है और अकाल तथा अभाव और अभाव तथा बहुतायत की हद अपेक्षाकृत बहुत ही कम चौड़ी और अस्पष्ट है तो हमें किसानों के क़र्ज़ की अनिवार्यता

में कोई सन्देह ही न रहे। डा० राधाकमल मुकर्जी का कहना है कि बहुत सा क़र्ज एक युग में अदा ही नहीं किया जा सकता। मौजूदा क़र्ज की मार का एक दुखःदायी नतीजा यह होता है कि बेचारे किसान को गरीबी और गुलामी की जिन्दगी बितानी पड़ती है।

उन्नाव जिले की आर्थिक दशा की जाँच करने वाले सज्जन का कहना है कि "जिले के इस कोने से उस कोने तक किसानों में शायद ही कोई ऐसा मिले जो क़र्ज से न दबा हो और बौहरों के पञ्जों से बचा हो। जिले में ऐसी सिसालों की कमी नहीं है जिनमें बेचारे किसानों को उन बाप-दादों का नाम तक याद नहीं जिनका क़र्ज मजबूरन उनको देना पड़ रहा है। लखनऊ जिले के रूधई गाँव के नव्वे फीसदी किसान क़र्ज से लदे पाये गये हैं।

इस क़र्ज का नतीजा यह होता है कि फसल तैयार होते ही महाजन आ धमकता है। वह किसान की पैदावार का ज्यादातर हिस्सा ले जाता है। ज्यादातर किसानों को खेती की लागत तथा खाने-पीने के खर्च को क़र्ज लेने के लिए फसल कटने से पहले ही गिरवी रख देनी पड़ती है। बहुत सी हालतों में फसल तैयार होने से पहले ही कुड़क कर ली जाती है। ऐसी हालत में किसान को उसकी पैदावार के आधे दाम भी मुश्किल से मिल पाते हैं। किसान अपनी फसल को छू तक नहीं सकता। कभी कभी तो तमाम फसल खलिहान में ज्यों की त्यों पड़ी रह जाती है उस

पर दायँ भी नहीं चल पातीं और इस बीच में पानी बरस जाने से तमाम फसल या तो वह जाती है या खराब हो जाती है। अर्थशास्त्र के अध्यापक श्री [illegible] सक्सेना ने लखनऊ जिले के रुधई गाँव की पूरी पक्की जाँच करके लिखा है कि— औसत किसान फी व्यक्ति पन्द्रह रुपए साल, सवा रुपया माहवार से ज्यादा नहीं कमा पाता। इसमें उसकी मजदूरी और इन्तिजाम का मुनाफा शामिल है। अलीगढ़ के रिटायर्ड रजिस्ट्रार सैयद तुफैल अहमद के कहने के मुताबिक किसान के लिए मूल तो दूर व्याज पटाना भी मुश्किल हो जाता है। प्रोफेसर दयाशङ्कर दुबे एम० ए० ने हिन्दुस्तान भर के लोगों की खुराक के सवाल की जाँच करके बताया है कि जितनी खुराक हर शख्स को मिलनी चाहिए, हिन्दुस्तान के दो तिहाई लोगों को यानी बीस करोड़ से ऊपर को उसकी तीन चौथाई खुराक भी नहीं मिलती, उतनी खुराक भी नहीं मिलती जितनी हिन्दुस्तान की ही जेलों में कैदियों को दी जाती है। शाही कृषि-कमीशन के एक मेम्बर प्रोफेसर गङ्गोली का कहना है कि प्रोफेसर दया-शङ्कर दुबे की इस बात का खण्डन नहीं किया जा सकता। जगत्प्रसिद्ध अङ्गरेज पत्रकार मि० ब्रेल्सफोर्ड का कहना है कि "किसानों के बच्चों को मा के दूध के बाद दूध के दर्शन तक नहीं होते। वे कर्ज से पली हुई छायामात्र हैं। ज्यादातर बालकों को आँख की या खून खराबी की कोई न कोई बीमारी होती है। बहुतों का पेट बढ़ा हुआ होता है जिससे मालूम होता है कि मलेरिया से उनकी तिल्ली बढ़ गई है। ज्यादातर बालकों के

हाथ-पैर ऐसे मालूम होते हैं मानो गाँठों में सूखी हुई काली लकड़ियाँ हिलगा दी गई हों।

गरीबी से गले और कर्ज में फँसे हुए किसानों की जिन्दगी ही क्या है? सन् १६२२ में एक बड़े तजरुबेकार अङ्गरेज ने जो हिन्दुस्थान के एक अहाते के गवर्नर भी रह चुके हैं, कहा था:—किसानों की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वे जिन्दगी बसर करते हैं, सिर्फ यही कहा जा सकता है कि वे जिन्दे हैं, मरे नहीं हैं।

वास्तव में हिन्दुस्तान के किसान जीते हुए भी मरे के समान हैं। वे सिर्फ मरते नहीं और सब कर्म हो जाते हैं। देश के ज्यादातर किसान, फूस से छाये हुए मिट्टी के घरों ही में रहते हैं। सिर्फ पञ्जाब के किसान इसके अपवाद भले ही हों, सो भी वहाँ के सब जिलों के नहीं। बहुत से सूबों में तो ज्यादातर बोहरों और जमीदारों के मकान भी पक्के नहीं होते। पूरे पक्के मकान बड़े जमीदारों और मालदार बोहरों के ही होते हैं। जिस किसान के कच्चे मकान पर भी छत हो, चौका तथा उठने-बैठने और सोने की कोठरियाँ अलग-अलग हों और बरामदा भी हो उसे सौभाग्य-शाली समझिये। साधारणतः भुस, घास, करब-कूड़ा, भैंस, गाय बैल, बकरी वगैरः भी मकान के भीतर उसी अहाते में रहें तो कोई बात नहीं। बहुतों को छत भी नसीब नहीं होती। फूस का छप्पर ही डाल लेते हैं। मकान भर में सिर्फ एक कोठरी होती है,

जिसमें एक तरफ रोटी बनती है, दूसरी तरफ उठना-बैठना होता है। मर्द, औरत और बच्चे जानवरों के साथ एक ही छप्पर में सो रहते हैं। गोरखपुर ज़िले के बहुत से गाँवों की जाँच करने पर यह पाया गया कि एक-एक झोंपड़ी में औसतन आठ से लेकर बारह-बारह व्यक्ति रहते हैं। और ये सब के सब जानवरों के साथ एक ही छप्पर में सोते हैं। अनेक किसानों के लिए तो घर सिर्फ टाँगें सीधी करने और रात में पड़ रहने भर की जगह है। बहुत सी जगह किसी तरह का एकान्त न रहने की वजह से हया-शर्म रखना असम्भव हो जाता है। जिन घरों का प्रभाव उन्नायक तथा सौन्दर्योत्पादक होना चाहिए वे विपत्तियों और बीमारियों की ऐसी मांदें बनी हुई हैं जहाँ लोग मक्खियों की तरह पैदा होते और मक्खियों की तरह ही मरते हैं। जिला गोरखपुर तहसील देवरिया के एक गाँव में ७ × १३ × ५ फीट की एक झोंपड़ी में एक कुम्हार उसकी कुम्हारिन, उनका बेटा तथा बेटे की बहू तथा एक नाती ये पाँच व्यक्ति मय बकरी के सोते थे। ६ × १४ × ५ फीट की दूसरी झोंपड़ी में एक कुम्हार अपनी कुम्हारिन, तीन बच्चों और बैलों के साथ सोता था। फलतः ये लोग बहुत ही गन्दे और बीमार थे।

बहुत से गाँवों के लोग घरों में सोने की जगह न होने की वजह से घर से बाहर पेड़ों के नीचे या खेतों में फूस की झोंपड़ी डालकर सोते हैं। एक गाँव में अन्वेषक अर्थशास्त्री ग्यारह-बारह शख्सों को एक ही जगह कुत्तों की तरह पड़ा देखकर दङ्ग रह गया।

जिनके पास जैसा-तैसा घर भी है उनके पास फर्नीचर के नाम पर चारपाई के अलावा और कुछ नहीं होता। हिन्दुस्तान के आई-सी-ऐसों की तरह किसानों की चारपाई उनके सब काम कर देती है। उसी पर उनके कपड़े-लत्ते रहते हैं। उसी पर वे रात को सोते तथा दिन को बैठते हैं। उसी पर अतिथियों को बिठाते हैं। बहुतों को चारपाई भी नसीब नहीं होती। बेचारे जमीन पर ही उठते-बैठते हैं उसी पर पड़ रहते हैं। बैठने के लिये तख्त, मूढ़े, चौकी वगैरः तथा अफसरों की आव-भगत के लिये दो-एक कुर्सी थोड़े से खाते-पीते लोगों के यहाँ ही होती हैं। गाँवों में ये चीजें बिलासिता की, अमीरी की सूचक मानी जाती हैं।

किसानों की बहुत बड़ी तादाद—करोड़ों किसान—जिन्दगी भर यह नहीं जान पाते कि दोनों वक्त भरपेट खाना किसे कहते हैं। बेचारे जैसा और जितना जो कुछ मिल जाय उसी से संतोष करते हैं। मोटे नाज की रूखी-सूखी रोटी भरपेट मिल जाय तो बड़े भाग समझिये। वे गेहूँ पैदा करते हैं, अमीरों के लिए, कर्ज तथा लगान चुकाने के लिए, और मक्का, ज्वार, बाजरा वगैरः उगाते हैं अपने तथा अपने परिवार के पेट की आग बुझाने के लिए। सैप हिगेन बोटन साहब का कहना है कि किसान अभी तक कच्चा बाजरा खाते हैं और कम से कम कपड़े पहनते हैं। उन बेचारों को घी-दूध फल तो दूर हरी तरकारी तक नसीब नहीं होती। कहीं साग-पात मिल गया तो ईश्वर की कृपा समझिये नहीं तो नमक-मिर्च के सहारे

रोटी लील लेते हैं। खाते-पीते किसानों को दाल और ईख के दिनों में गुड़ या ईख का रस भी मिल जाता है। श्री भोलानाथ मिश्र ने ऊपर की सब बातों की ताईद करते हुए लिखा है कि बेचारे किसान दावतों के मौकों पर गेहूं की रोटी खाते हैं। उनकी यह राय मि० एस० एन० ए० जाफ़री की अपनी History and status of Landlords & tenants in United Provinces में उद्धृत की है। यह तो सभी विशेषज्ञों का कहना है कि हिन्दुस्तान के करोड़ों किसानों को पूरा पोषक भोजन नहीं मिलता। शाही कृषिकमीशन का कहना है कि हिन्दुस्तान में पोषक भोजन की कमी से जितने लोग मरते हैं उतने अकालों और महामारियों से भी नहीं मरते।

किसानों के कपड़े नहीं के बराबर होते हैं। गरमियों में वे सिर्फ धोती-लँगोटी पहने रहते हैं। जब कहीं आना-जाना हो, मेला या तीज-त्यौहार हो तो 'धरऊ' पोशाक पहन लेते हैं यानी लड़के कुरता-टोपी और वयस्क मिरजई, साफा या अँगरखा, पगड़ी। जूता, धोती, टोपी या फैंटा और अँगोछा, गरमियों में मिरजई और जाड़ों में रुईदार कोट और बहुत बढ़ गये तो पजामा यह आसूदा किसानों की पोशाक है। किसान-स्त्रियाँ लहँगा, ओढ़नी और अँगिया में गुजारा करती हैं। किसान इन कपड़ों को जब-कभी खुद ही गाँव की पोखर में धो लेते हैं। किसानों की पोशाक का यह वर्णन over population in Jaunpur नामक पुस्तक के ४२ वें पृष्ठ पर किया गया है।

ज्यादा अमीरों के पास ज्यादा धरऊ और कीमती कपड़े भी होते हैं लेकिन ज्यादातर किसान धोती या लँगोटी पहन कर रहते हैं। ख़ुशहाल किसान सलूका पहन लेते हैं। जाड़ों में दुहरा या रुईदार सलूका पहन लेते हैं। किसानों की स्त्रियाँ बहुत मामूली लहँगे, ओढ़नी और अँगिया से ही अपनी शर्म ढकती हैं। बहुतों को इतने कपड़े भी नसीब नहीं होते। ओढ़ने-बिछाने को अमीरों के यहाँ गरमियों में दरी, दुतई और चादरा तथा सर्दियों में गद्दा-रजाई होते हैं। ज्यादातर किसानों के पास एक दोहर होती है जिसे वे शुरू सरदी में यों ही ओढ़ लेते हैं, और ज्यादा सर्दी पड़ने पर उसमें रुई भर लेते हैं। बहुतों को इतने कपड़े भी नसीब नहीं होते। पुलाव में पड़कर या जाड़े भर आग तापते हुए रात काटते हैं।

किसानों की गरीबी का एक चित्र देखिये। मालपारा जिला हरदोई के बल्टी नट शिकमी काश्तकारके तीन बच्चे हैं। वे हमेशा भूखे रहते हैं। उन्हें पोषक तो क्या, कैसा भी खाना भर पेट बहुत कम नसीब होता है। एक-दो रोटी माँग कर खा ली तथा पानी पी लिया। यों ही खाली ज़मीन पर रात भर पड़े रहते हैं। ताल्लुक़ेदार साहब दया करकेपयाल दे दें तो भाग जगे समझिये। गरमियों के छः महीने तो नंगे रहते ही हैं। जाड़ों में भी अगर कोई कपड़ा दे दे तो ठीक नहीं तो अधियाने के सहारे रात काटनी होती है। गरीबी के मारे हुए किसान बैठी हुई आँखों वाले नर-कङ्काल मात्र होते हैं। यू० पी० सरकार के प्रकाशन-

विभाग के भूतपूर्व इञ्चार्ज मिस्टर एस० एन० जाफरी का कहना था कि ज्यादातर किसानों के कपड़े बहुत ही तुच्छ होते हैं।

नंगे और भूखे किसानों को दिन-रात कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। मूसलाधार मेह हो, या प्राणघातक लू, या विकट से विकट सर्दी, किसान को अपना काम करना ही पड़ेगा। आराम और आनन्द किस चिड़िया का नाम है यह वे सपने में भी नहीं जान पाते।

सुबह बड़े तड़के उठ कर उन्हें रात के नौ-दस बजे तक काम करना पड़ता है। अक्सर खेत की रखवाली के लिए खेत पर ही झोंपड़ी में सोना पड़ता है। उजेली रात में सुबह तीन-चार बजे से हल जोतने लगते हैं। घर पर भी जानवरों को चारा तैयार करने, उन्हें दुहने आदि का काम करना पड़ता है। मतलब यह कि कैदियों को जेलों में उतनी मशक्कत नहीं करनी पड़ती जितनी किसानों को।

किसान-स्त्रियों का जीवन भी कड़ी मेहनत का जीवन होता है। मर्दों से पहले उठकर वे मकान को झाड़ती-बुहारती हैं। आटा पीसतीं तथा चौका-बर्तन करती हैं। फिर खाना बनाकर खिलाती खाती हैं। बाल-बच्चों को न्हिलाती-धुलाती और खाती पिलाती हैं। शाम को फिर खाना बनाकर और सबको खिलाकर तब खुद खाती हैं। मरदों के बाद सोती हैं। सुबह-शाम पानी भर कर लाती हैं और घर-गृहस्थी के इन तथा ऐसे और अनेक कामों के अलावा खेतों पर भी काम करती हैं।

किसानों के बालक बचपन से ही काम में जुट जाते हैं। खेतों पर खाना लेजाना, तमाखू भरना, जानवरों का चराना, खोलना बाँधना ये सब काम बच्चों को करने पड़ते हैं। कुछ और बड़े हुए कि नराई का काम लिया जाने लगा। किसान-कुमार चौदह बरस के होते-होते पूरे किसान का काम करने लग जाते हैं। किसान-कुमारियाँ, झाड़ा-बुहारी, चौका-बर्तन, बाल-बच्चों की सम्हाल वगैरह में माँ का हाथ बँटाती हैं।

इस जिन्दगी में खेलों को जगह कहाँ? घरेलू खेलों की कौन कहे मैदान के पुराने खेल, कबड्डी, गिल्ली-डन्डा, आँख मिचौनी गेंद-बल्ला वगैरह भी घटते-मिटते जा रहे हैं। खेलों की तरह विश्राम और मनोविनोद को भी किसानों के जीवन में रहने योग्य स्थान नहीं। कभी कोई सारङ्गी वाला आगया तो कभी कोई जोगी बैन बजाता आ पहुँचा। कभी-कभी आल्हा-ढोला और भजन गाने वाले तथा भाँड, नट, सपेरे, बाजीगर, बहुरू-पिये रीछ-बन्दर के मदारी और नांदिये वाले भी हो जाते हैं। किसी खुशहाल की ब्याह-शादी में रास, नौटंकी, भजन-मण्डली वगैरः का आनन्द मिल जाता है। नहीं तो जिन्दगी तेली के बैल की तरह किसनई का कोल्हू पेरते ही बीतती है। मन बह-लाव के इन बहानों के अलावा किसानों की जिन्दगी एकदम नीरस, निरानन्द, कड़ी मेहनत परेशानी और जमीदार बौहरे वगैरह की हाऊ-हड़प नीति से पीड़ा की जिन्दगी है। मन-बहलाव की जिन बातों की चर्चा की गई है वे विरलों को बड़े भाग्य से ही मिलती हैं। पिलनाक नाम के नामी रूसी लेखक के शब्दों में

"किसानों की जिन्दगी सबको मालूम है—काम कर सकें इसलिए रोटी खाना और खाने को रोटी मिल सके इसलिए काम करना। इसके अलावा खुद पैदा होना, बच्चे पैदा करना और मर जाना।

समाज में किसानों की न कोई इज्जत है, न उनका कोई स्थान। किसान होना सब से छोटा होना सब का गुलाम होना है। गरीब की लुगाई सब को भौजाई वाली बात है। पण्डित मदनमोहन मालवीय ने शाही कमीशन के सामने कहा था, "हर शख्स किसानों को बुरी निगाह से देखता है। पुलिसमैन, तहसील का चपरासी, ज़मींदार का नौकर, सब किसानों को नीची निगाह से देखते हैं। उनके साथ फुटबौल का सा बर्त्ताव किया जाता है—उन्हें फुटबौल की तरह लतिआया जाता है। यह समझा जाता है कि दब कर रहना ज़मींदार और अफसरों तथा अहलकारों के सामने सर झुकाए रहना किसानों का फर्ज़ है। अगर ज़मींदार या अहलकार से बात-चीत करते हुए किसान नज़र उठा कर देख लें तो उनकी भारी गुस्ताखी समझी जाती है।"

वास्तव में सब के सब अपने को किसानों के सामने साक्षात शाहंशाह समझते हैं। एक मजिस्ट्रेट ने खुद यह कहा था कि पटवारी शाहंशाह का एजेन्ट है। किसानों और खेतों के मजदूरों में गुलामी अब भी जारी है। ज़मींदार हर तरह से इस बात की कोशिश करते हैं कि किसान हमेशा उनका गुलाम बन कर रहे।

किसान जरा भी सर उठाता है तो कुचल दिया जाता है। पुलिस, जमींदार और अहलकारों के खिलाफ किसान सच्ची गवाही तो कभी दे ही नहीं सकते। उनके दबाव से किसानों को बहुधा झूठी गवाहियाँ देनी पड़ती हैं। जब तक कांग्रेस के प्रयत्न से जन-जाग्रति नहीं हुई थी तब तक वोट के वक्त भी जमींदारों के लट्ठबन्द नौकर जिधर चाहते थे किसानों को भेड़ों की तरह हाँक ले जाते थे। डबलू० एच० मोरलैन्ड ने अपनी From Akbar to Aurangazeb नामक पुस्तक के दोसौ छत्तीसवें पृष्ठ पर जो यह लिखा है कि किसान होने से तो चपरासी होना कहीं अच्छा है यह आज तक अक्षरशः सही है। खेती के मजदूरों की खास-तौर पर परिगणित जातियों के लोगों की जिन्दगी और भी कष्टमय होती है। राजा जगन्नाथ बख्शसिंह ने शाही कमीशन के सामने गवाही देते हुए कहा था कि बालिग मज़दूरों को चार आना रोज तक और बच्चों तथा औरतों को डेढ़ आना रोज़ तक मजूरी दी जाती है। उन्नाव में मर्द मजूरों को तीन आने से लेकर छः आने तक मजूरी मिलती है लेकिन सिरसाहेरी गाँव को जमींदार लोग दो आना रोज़ से कम देते थे। कुछ जगह के तअल्लुक़ेदार इससे भी कम।

यों तो संसार के बहुत से देशों में, विशेषकर अपने को लोक-तंत्र के ठेकेदार कहनेवाले देशों में भी शासन में किसानों की कोई आवाज नहीं, राज-काज में उनका कोई हाथ नहीं। इङ्गलैण्ड में अल्पमत की रक्षा के नाम पर हाऊस आफ लार्डस् है लेकिन अल्प-मत संरक्षक किसानों की रक्षा के लिए कोई हाऊस आफ पैजेन्टस्

नहीं। अमेरिका में भी किसानों का कोई विशेष प्रतिनिधित्व नहीं। अमेरिका की मैसैच्यूसैट रियासत के कृषि कालेज में सभापति केनियन एल बटर फील्ड का कहना है कि वहाँ राष्ट्रीय मामलों में किसानों के प्रतिनिधित्व का अभाव है। किसानों की बात कहने वाले किसान प्रतिनिधियों की तथा ऐसी किसान संस्थाओं की एक दम में कमी है जो केन्द्रीय राष्ट्रीय मामलों में किसानों का दृष्टिकोण रक्खें उनकी आवाज़ बुलन्द करे, उनकी बात कहें। अमेरिका के पत्रों और पुस्तकों में किसानों की चर्चा तक नहीं होती। ब्रिटिश मज़दूर-दल भी किसानों की चर्चा तक नहीं करता।

लेकिन हिन्दुस्तान में किसानों की ग़ुलामी का मुकाबिला कोई नहीं कर सकता। जहाँ प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोपीय देशों में टिल्टमैन के कथनानुसार वहाँ के किसानों की राजनैतिक शक्ति बढ़ी, कृषि सुधार के कानून बने, सहयोग समितियाँ और बैंकों का विकास हुआ, किसानों के हितों को व्यक्त करने के लिये व्यापारी मंडलों की तरह किसान-मण्डल बने कृषि सम्बन्धी शिक्षा में वृद्धि हुई, खेती के मज़दूरों की सामाजिक सेवा करने वाली संस्थाएँ बनी, किसानों के हितकारी अनेक क़ानून बने वहाँ हिन्दुस्तान में यहाँ की सरकार ने ज़मीदारों और राजा-महाराजाओं तथा नवाबों को विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए क़ानून बनाए, कई सूबों में उनकी विशेष व्यवस्था-सभायें क़ायम कीं अन्य व्यवस्थापिका सभाओं में उनको

विशेष प्रतिनिधित्व दिया लेकिन किसानों के लिए शासन विधान में हिस्सा देने के लिए विशेष कुछ नहीं किया।

और तो और जहाँ ब्रिटिश साम्राज्य के ही उपनिवेशों की सरकारों ने पिछले चालीस बरस में यानी बीसवीं शताब्दी में किसानों को अपना माल बाहर भेजने और बाहर से माल मँगाने के साधनों, यातायात के साधनों उनके लिए सुविधा पूर्वक कम ब्याज पर कर्ज़ा लेने के साधनों का, शिक्षा की सुविचारित व्यवस्थाओं का, किसानों को हितकर बाजारों के निर्माण का विशेष प्रबन्ध किया वहाँ हिन्दुस्तान की सरकार ने कुछ भी नहीं किया।

हिन्दुस्तान में किसानों की बेकदरी, उनके हितों की उपेक्षा की यह हालत है कि खेती की तरक्की के तरीक़ों की जाँच करने के लिए जो शाही कमीशन बैठाया जाता है वह एक भी किसान की गवाही नहीं लेता। संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध का उदाहरण लीजिये। इस सूबे में कमीशन ने तेतीस व्यक्तियों की गवाहियाँ लीं। इनमें आधे के करीब सरकारी अफ़सर थे बाकी जमींदार और राज-काजी। इनमें दो एक बड़े बड़े जमींदार ऐसे भी थे जो बड़े बड़े फार्मों का प्रयोग करते थे लेकिन तेतीस में असली किसान, छोटा किसान तथा शिकमी एक भी नहीं था। पञ्जाब में एक भी छोटे जमींदार की खुद जमीन जोतने वाले एक भी काश्तकार की गवाही नहीं हुई। जो खुद खेती नहीं करते थे सिर्फ उन्हींसे पूछा गया कि खेती की तरक्की कैसे हो सकती है?

शाही कमीशन के सामने गवाही देने वाले गवाहों की सूची पर दृष्टि डालते ही यह सच्चाई घूर-घूर कर आपकी तरफ देखेगी। ३०-३१ में गोलमेज कान्फ्रेंस हुई। उसमें हिन्दुस्तान की सरकार ने अपनी मर्जी से बेशुमार फिरकों और जमातों के "डेलीगेट" बनाकर भेजे। लेकिन तीनों कान्फ्रेंसों में किसानों का एक भी डेलीगेट नहीं भेजा गया।

सन् १९२६ के बाद कई बरसों से किसानों की फसलें खराब हो रही थीं। लेकिन सरकार ने उनके लगान में वाजिब माफी-मुल्तवी नहीं की। सन् ३०-३१ में जब संसार व्यापी आर्थिक संकट आया, नाज एक दम सस्ता हो गया और किसानों के सामने सर्वनाश का सवाल आ खड़ा हुआ तब भी सरकार सौंठ होकर बैठी रही। खरीफ की फसल निकल गई तब भी सरकार ने कुछ नहीं किया। कांग्रेस और कौंसिल द्वारा झकझोरे जाने पर उसने लगान में कुछ माफी-मुल्तवी की। लेकिन लगान और मालगुजारी की माफी-मुल्तवी के सवाल पर गौर करके राय देने के लिए जो चुनी हुई कमेटी मुकर्रर की गई उसमें किसानों का प्रतिनिधि एक भी नहीं रक्खा गया। मानो लगान की माफी-मुल्तवी के सवाल से किसानों का कोई सरो-कार ही नहीं। नतीजा वही हुआ जो होना था। नाज सस्ता हो जाने की वजह से किसानों को साठ फीसदी नुकसान हुआ था लेकिन लगान में माफी मिली सिर्फ आठ फीसदी। गरीब किसानों को बावन फीसदी का नुकसान उठाना पड़ा और सरकार तथा जमींदारों को क्रमशः सिर्फ सात और छः फीसदी

का। सो भी कहने को। असल में नाज की सस्ती से इन लोगों को जो पच्चीस फीसदी का फ़ायदा हुआ उसकी वजह से ये लोग सरकार और जमींदार तो सत्रह-अठारह फी सदी के फायदे में हैं। मरे तो केवल किसान! ऐसे बुरे वक्त में जब खुद सरकार यह जानती थी कि किसानों के लिए फसल हाल का लगान चुकाना भी मुश्किल है तब पिछले सालों के बकाया लगान की नालिशों से जो हजारों मौरूसी किसान बेदखल कर दिये गये उनकी किसी ने बात तक नहीं सुनी। माफी मुल्तवी के सवाल पर गौर करके राय देने वाली जिस कमेटी में किसानों का एक भी प्रतिनिधि नहीं था उसने १३४० फसली में माफी मुल्तवी के बारे में ऐसे किसान-विरोधी और स्वार्थपूर्ण प्रस्ताव किये कि स्वयं सरकार को अपनी रिपोर्ट में उनकी नुक्ताचीनी करनी पड़ी और वह उन प्रस्तावों को स्वीकार न कर सकी।

देश के शासन में किसानों की कोई आवाज न होने की वजह से ब्रिटिश शाहंशाह और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा भारत का शासन सीधे अपने हाथ में लेने के लगभग पचास बरस तक यानी भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के लगभग डेढ़सौ बरस बाद तक खेती तरक्की की तरफ सरकार का ध्यान तक नहीं गया। शाही कृषि-कमीशन का कहना है कि सन् १९०१ के अकाल कमीशन और सन् सन् १९०३ के सिंचाई कमीशन की सिफारिशों से भारत-सरकार का ध्यान खेती की तरक्की के उपाय खोजने और उनमें सुधार करने की तरफ गया। पहले-पहल सन् १९०३ में ४ जून को पूना में

कृषि सम्बन्धी खोज करने के लिए एक संस्था कायम की गई वह भी हिन्दुस्तान की सरकार के रुपये से नहीं। शिकागो (अमेरिका) के एक दानी मिस्टर हैनरी फिलिप ने तीस हजार पौण्ड भारत-सरकार को दान में दिये थे उसका ज्यादातर हिस्सा इस कृषि-विषयक खोज करने वाली संस्था की स्थापनामें लगा दिया गया। जहाँ तक हिन्दुस्तान की सरकार से तअल्लुक है वहाँ तक उसने सन् १९०५ में पहले-पहल हर सूबे में खेती की तरक्की का महकमा खोलने के लिए बीस लाख सालाना देना मंजूर किया। और ये महकमे कायम कई बरस बाद तक हो पाये। संयुक्त-प्रान्त में १९१४ में कायम हुआ। यानी ठीक डेढ़ सौ बरस तक भारत की ब्रिटिश सरकार ने खेती की, नव्वे फीसदी जनता के धन्धे की, तरक्की की कोई जरूरत ही नहीं समझी, और सन् १९२६ तक सैमहिगन बॉटम साहब के शब्दों में हिन्दुस्तान की जरूरतों के लिए खेती विषयक खोज बिल्कुल नाकाफी थी वास्तव में वह १९४५ तक भी बहुत नाकाफी है।

खुद सरकारी गवाहों ने शाही कमीशन के सामने गवाही देते हुए यह मंजूर किया था कि छोटे किसानों की तरक्की के सवाल पर अभी तक गौर ही नहीं किया गया! और आज तक सरकार छोटे किसानों की तरक्की की कोई सुव्यवस्थित योजना नहीं बना पाई है। संयुक्त-प्रान्त की सरकार की रिपोर्ट में खुल्लमखुल्ला यह कहा गया कि सरकार की नीति बड़े-बड़े जमीदारों, पूँजीपति किसानों, फार्मवालों को मदद देने की रही। उससे बड़े-बड़े

फार्मवालों को ही फायदा पहुँचा। जब कि सैमहिगन बॉटम साहब ने कमीशन को यह बताया कि यह सूबा छोटे किसानों का सूबा है तब सूबे के कृषि-विभाग के अत्युच्च अधिकारी डाक्टर पार ने कमीशन के सामने यह मंजूर किया कि हमने छोटी जोतों को इकाई मान कर उनकी तरक्की के विशेष उपाय सोचना शुरू ही नहीं किया है। सरकारी रिपोर्ट के शब्दों में खेती के महकमे को छोटे किसानों की यानी किसानों की तरक्की के सवाल पर ग़ौर करने की फ़ुरसत ही नहीं! डाक्टर पार ने कहा कि सूबे की सरकार खेती के महकमे को गौण मानती है।

जिस पंजाब सूबे में खेती की तरक्की के लिये सबसे ज्यादा कोशिश की गई है उसकी बाबत् उसी सरकार ने एक विशेषज्ञ अफसर मिस्टर एफ-एल ब्राइन आई-सी-एस ने शाही कमीशन के सामने यह कहा था कि "खेती की तरक्की के काम के बहुत से पहलुओं की तरफ किसी का ध्यान ही नहीं है। उन्होंने कहा कि आजकल जैसी सरकार है उसमें हो ही क्या सकता है? छः साल तक मैंने असाधारण कोशिश करके यह देखा, मैंने सरकारी तौर पर, अर्धसरकारी तौर पर और निजी तौर पर सब तरह ख़त भेजे। सरकारी अफसरों और मिनिस्टरों से मिला, सदर दरवाजे से भी और चोर दरवाजे से भी, लेकिन अपने ज़िले के किसानों की तरक्की के लिए सरकारी मदद लेने में मैं कामयाब न हो सका।" जब एक जिलाधीश का यह अनुभव है तब औरों का क्या कहना?

संयुक्तप्रान्त के महकमे माल के तत्कालीन सैक्रेटरी मिस्टर लेन ने शाही कृषि कमीशन के सामने गवाही देते हुए यह मंजूर किया कि मेरा महकमा यह महसूस करता है कि गाँवों की माली तरक्की से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। यह उसका काम नहीं है कि वह किसानों की तरक्की के लिए कोशिश करे ....'कलक्टरों के पास भी इतना वक्त नहीं कि वे किसानों की भलाई की बात सोचें। किसानों से उनका सम्पर्क दिन पर दिन कम होता जाता है। अब रहे डिप्टी कलक्टर, सो उनके पास मुकद्दमों का काम ही इतना रहता है कि वे किसानों की भलाई के कामों में वक्त नहीं दे सकते।

खेती की तरक्की के उपायों की जाँच करने के लिए जो शाही कमीशन बैठाया गया था उसे यह अख्त्यार न था कि मौजूदा कानून मालगुजारी और कानून लगान के बारे में तथा आबपाशी की दर के बारे में कोई सिफारिश करे! मानो कानून लगान और मालगुजारी का तथा आबपाशी की दरों का किसानों की तरक्की के उपायों से कोई सरोकार ही नहीं है। संयुक्तप्रान्त के कृषि विभाग के तत्कालीन डाइरैक्टर क्लार्क साहब को शाही कमीशन के सामने यह मंजूर करना पड़ा कि उन्हें नहीं पता कि सूबे में किसानों की जोतों की औसत क्या है? एक कृषि-कालेज के एक प्रिन्सीपल ने सैकहिगन बॉटम साहब से फरमाया कि मुझे यह नहीं मालूम कि मुझे कृषि-कालेज का प्रिन्सीपल किसलिए मुकर्रर किया गया है? मैंने तो कभी प्याज तक की खेती नहीं की!

गुलामी के कारण, शासन में किसानों की कोई आवाज़ न होने के कारण, किसानों की भलाई के लिए कायम किये गये महकमे या तो उच्चाधिकारियों को बड़ी-बड़ी तनख्वाहें देने और मनमाने प्रयोग करने के साधन मात्र रह जाते हैं या उल्टे किसानों पर जुल्म करने के हथियार बन जाते हैं। कृषि-विभाग का वर्णन किया जा चुका है। अब सिंचाई के महकमे और सहयोग विभाग को ले लीजिये।

पक्के कुओं से ही छोटे किसानों की सिंचाई की आवश्यकता पूरी हो सकती है। नहरें इतनी निकाली नहीं जा सकतीं जिससे सिंचाई की ज़रूरत पूरी हो सके और ट्यूब वैलों से उस वक्त तक कोई फायदा नहीं हो सकता जब तक कि कई फसलें न उगाई जायँ और ईख, आलू, तमाखू वग़ैरः कीमती फसलें न बोई जायँ। लेकिन जिन पक्के कुओं से करोड़ों किसानों को फ़ायदा पहुँच सकता है उनकी मरम्मत सातसौ, छःसौ रुपये के हिसाब से होती है। शाही कृषि कमीशन के मेम्बर सर गङ्गाराम ने कहा था कि सिंचाई के मामले में जिस चाल से तरक्की हो रही है उससे बारह सौ बरस में हम उतनी एकड़ों में सिंचाई का इन्तिज़ाम कर सकेंगे जितनी में यह इन्तिज़ाम लाज़िमी है।

महकमे नहर की बाबत लोगों को बेहद शिकायतें हैं। नहर की पटरियों पर होकर किसानों के बैल वग़ैरः नहीं निकलने दिये जाते जिससे उन्हें बहुत कष्ट होता है। नहरों के पानी देने का कोई वक्त मुकर्रर नहीं। किसानों को निश्चित रूप से यह भी नहीं बताया जाता कि पानी कब आवेगा? नहर के पानी

की उम्मेद पर किसान काफी खेत जोतकर बो देते हैं लेकिन अक्सर खेतों को पानी नहीं मिलता जिससे बाकी खेत बिल्कुल मारे जाते हैं। बेचारे किसानों को और नुकसानों के साथ साथ जुताई और बीज का नुकसान व्यर्थ उठाना पड़ता है। बरसात बन्द होने के बाद तुरन्त ही नहरें नहीं खोली जातीं जिसमें जब कभी बरसात जल्दी बन्द हो जाती है तब फसल को भारी नुकसान पहुँचता है। नहर के बम्बे कभी ठीक तौर पर साफ नहीं किये जाते। उनकी सफाई का काम बड़े बड़े ठेकेदारों को दे दिया जाता है। ठेकेदार ठीक सफाई नहीं करते। बम्बों से अलग अलग जगह कितना पानी निकलता है इसकी ठीक रिपोर्ट नहीं होती। रिपोर्ट करने का काम पतरौलों के सुपुर्द है। वे मुहाने पर नाप कर यह अन्दाज लगा लेते हैं कि आगे कितना पानी निकलता होगा और यही अन्दाज़िया रिपोर्ट भेज देते हैं। बेचारे किसान अफसरों को अर्जी पर अर्जी देते हैं कि पानी कम मिल रहा है, पतरौल की रिपोर्ट गलत है लेकिन उनकी अर्जियों की कौन सुनता है। पतरौल की रिपोर्ट वेद-वाक्य मान ली जाती है।

एक बम्बे के सुपुर्द जितना रकबा होता है वह उतने रकबे को पानी नहीं दे सकता। बँदोबस्त के वक्त अफसर बँदोबस्त नहर के महकमों के अफसरों से यह नहीं पूछते कि कौन कौन रकबा नहरी है? जिस रकबे को बँदोबस्त से पहली साल या कुछ साल पहिले नहर का पानी मिल जाता है उसे नहरी करार देकर उस पर लगान बढ़ा दिया जाता है। स्वभावतः

किसान इस रकबे के लिए पानी माँगते हैं। लेकिन महकमा नहर के अफसर उनके खेतों को नहरी रकबे में नहीं शामिल करते। यानी आबपाशी लेने के लिए किसानों के खेत नहरी हैं, और पानी देने के लिए ग़ैर नहरी।

जब पानी की ज़रूरत होती है तब नहरों से पानी नहीं दिया जाता और जब दिया जाता है तब भी काफी मिकदार में नहीं दिया जाता। कुलाबों का मुँह कम तथा बम्बों को गहरा करके पानी की मिकदार घटा दी जाती है। किस फ़सल में और किस महीने में कितना पानी मिलेगा इसका ठीक ठीक प्रोग्राम किसानों को अच्छी तरह नहीं बताया जाता।

जब नहर के पानी की ज़रूरत नहीं होती तब वह बिल्कुल बरबाद होता है अगर यही पानी बम्बों के ज़रिये गाँवों की पोखरों को दिया जाय तो बहुत फायदा हो। जहाँ पोखर नहीं हैं या ठीक जगह पर नहीं हैं वहाँ इस कामके लिए नए तालाब बनाए जा सकते हैं? लेकिन महकमे नहर में किसानों की भलाई की परवा किसे है?

माँटगोमरी पञ्जाब की ओमरा रियासत के कर्नल ई० एच० कोल ने कमीशन से शिकायत की थी कि पानी की सबसे ज्यादा बरबादी महकमा नहर करता है। इस महकमे के अफसर अगर किसानों की शिकायत न सुनें और वे अक्सर नहीं सुनते तो ब्रह्मा भी किसानों की मदद नहीं कर सकता। जिलाधीशों के पास शिकायत लेकर पहुंचने पर जवाब मिलता है कि यह मामला हमारे अख्तयार से बाहर है। कोल साहब ने कहा

कि फाइनेंशियल कमिश्नर से उन्होंने रिपोर्ट की तो जवाब मिला कि हमने आपकी शिकायत नहर के चीफ इञ्जीनियर के पास भेजदी लेकिन वहाँ से कोई जवाब ही नहीं मिलता।

पन्द्रह बीस रुपये माहवार से भी कम तनुख्वाह पाने वाले पतरौलों और पटवारियों की रिपोर्टों पर किसानों के भाग्य का फैसला कर दिया जाता है। सब तरह से इन अहलकारों को रिश्वत लेने, जबरदस्ती रुपया ऐंठने तथा तरह तरह से किसानों को सताने का भारी लालच और पूरा मौका मिलता है।

आबपाशी की दर भी बहुत ज्यादा है। उससे सरकार मुनाफा उठाती है। आबपाशी की वसूलयाबी भी बड़ी सख्ती के साथ होती है। जब खुद सरकार अकाल की वजह से लगान माफ करती है तब भी अक्सर आबपाशी नहीं माफ होती। किसानों को शासन में और अधिकार मिलना तो दूर अभी तक गाँवों में नहरों की पंचायतें तक नहीं कायम हो सकीं।

सहयोग-विभाग भी बहुत से सूबों में एक विपत्ति ही साबित हुआ है। इस महकमे के जरिये किसानों को बिल्कुल गुलाम बना लिया जाता है। चुनावों में बैङ्क के मैम्बर किसानों को अपनी वोट बैङ्क के सैक्रेटरी के हुक्म के मुताबिक देनी होती है। किसानों से कर्जे का रुपया लेकर उसकी रसीदें न देने या कम की रसीद देने की, किसी का रुपया किसी से वसूल करने, हिस्से का रुपया वापस करने में तरह-तरह की अड़चनें डालने की और ऐसी ही और भी बहुत सी शिकायतें सुनाई देती हैं। इनमें

से ज्यादातर शिकायतों की जाँच करने पर लेखक ने उन्हें बिल्कुल सही पाया। संयुक्तप्रान्त की सरकार ने शाही कृषि-कमीशन के सामने जो रिपोर्ट पेश की उसके पैरा ३७१ में लिखा है—"बदायूँ जिले की कुल डेढ़सौ सोसाइटियों में तथा बनारस, सुल्तानपुर वग़ैर: की कई सोसाइटियों में बार-बार गड़बड़ी और बेकायदगी पाई गई जिनसे मजबूर होकर सरकार को वे तोड़नी पड़ीं। कई मैनेजिङ्ग डाइरेक्टरों पर बेईमानी के लिए मुक़द्दमे चलाये गये! एक कमेटी का कहना है कि सहयोग समितियों की जाँच के लिए मैकलेगन कमेटी ने जो कसौटियाँ कायम की हैं उन पर कसने पर संयुक्तप्रान्त की ज्यादातर सोसाइटियाँ कोरी ढोंग साबित होंगी। इस सूबे की बैङ्किङ्ग जाँच कमेटी का कहना है कि सूबे के सहयोग-विभाग ने न सिर्फ अपने काम में कोई कहने योग्य कामयाबी ही नहीं हासिल की बल्कि निश्चित नुकसान पहुंचाया है।

महकमे जङ्गलात की कहानी संयुक्तप्रान्त के इस महकमे के चीफ कमिश्नर मि० शैयर (Chauar) की जबानी सुनिये। शाही कृषि कमीशन के सामने गवाही देते हुए उन्होंने कहा कि किसानों के खेतों, उनके जानवरों और खुद किसानों तथा उनके बाल-बच्चों को हिंसक तथा जङ्गली जानवरों से बचाने के लिए महकमा कुछ नहीं करता! और न वह किसानों को ही यह इजाज़त देता है कि अपने खेतों, बाल-बच्चों, जानवरों और खुद उन्हें खाजाने वाले जङ्गली जानवरों को मारें। सवाल ३६८३२ के जवाब में आप ने यह मंजूर किया कि हमारे क़ायदे व्यापा-

रिक दृष्टि से न्याययुक्त नहीं हैं, लेकिन शिकार के शौकीनों की ज़रूरत को पूरा करने के लिए हम न तो खुद इन जङ्गली जानवरों को मारते हैं, न किसानों को ही उन्हें मारने की इजाजत देते हैं।

किसानों की फसलों को जानवरों से जो नुकसान पहुंचता है वह मामूली नहीं है। सैप हिगन बॉटम साहब का कहना है कि मैंने जङ्गली जानवरों द्वारा होने वाले नुकसान की बाबत बहुत से सुयोग्य निरीक्षकों से बातचीत की है, वे इस नुकसान को हिन्दुस्तान की कुल पैदावार के दसवें हिस्से से लेकर पाँचवें हिस्से तक कूतते हैं।

घी-दूध में मिलावट होने की वजह से और वानस्पतिक घी के प्रचार की वजह से घी-दूध का व्यापार नष्ट होता जा रहा है लेकिन मिलावट के विरुद्ध काफी और कारगर कानून नहीं। एक मुसलमान जज ने उसकी अदालत में यह साबित हो जाने पर भी कि अभियुक्त ने घी में सूअर की चर्बी मिलाई थी उसको इसलिए बरी कर दिया कि क्योंकि यह साबित नहीं हो सका कि सूअर की चर्बी स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। गाय की चरबी की मिलावट साबित होने पर भी यही हाल हुआ। पञ्जाब के कृषि-रसायनज्ञ डाक्टर पी० ई० लैन्डर ने साफ साफ यह कहा कि—हिन्दुस्थान में आज-कल कई किस्म के वानस्पतिक घी को सस्ता बनाने के लिए उसमें खनिज तेल कसरत से मिलाया जाता है और इन खनिज तेलों का हिन्दुस्थान में आना न रोक सकने के कारण सरकार एक तरह से वानस्पतिक

तेलों में इन खनिज तेलों की मिलावट को प्रोत्साहन दे रही है।

सरकार की रेलों की किराये की नीति भी किसानों के लिए घातक है। अलीगढ़ के कैवेन्टर ब्रदर्स ने शाही कमीशन के सामने कहा था कि "हर साल अच्छा दूध देने वाली गायों और भैंसों की कमी बढ़ती जा रही है। कारण यह है कि अच्छे से अच्छा दूध देने वाली गायें और भैंसें बम्बई और कलकत्ता ले जाई जाती हैं। वहाँ उनके सूख जाने पर चारे की कमी की वजह से ग्वाले उन्हें कसाइयों के हाथों कटने के लिए बेच देते हैं। रेल का भाड़ा ज्यादा होने की वजह से उन्हें वापस नहीं कर सकते। गायों-भैंसों को माल-गाड़ी से लाने ले जाने की वजह से भी इनके व्यापार को भारी अड़चन पड़ती है।

हिन्दुस्थान का पशु-धन बहुत अधिक है। वास्तव में पशु-धन में हिन्दुस्थान संसार का सब से धनी देश है। १९३५ की गणना के अनुसार जिसमें बर्मा तथा भारतीय रियासतें भी शामिल हैं। भारत का कुल जीवित पशु-धन २६ करोड़ था। इसमें १७ करोड़ के लगभग गौ धन था। डाक्टर एन राइट (Wright) के कथनानुसार हिन्दुस्थान की दूध की पैदावार आठ अरब रुपए साल की है। सिर्फ अमेरिका में हिन्दुस्थान से ज्यादा दूध पैदा होता है। ब्रिटेन से चौगुना, डेनमार्क से पँचगुना और आस्ट्रेलिया से छः गुना दूध पैदा होता है। फिर भी जब कि ब्रिटेन में फी व्यक्ति ३९ औंस दूध की खपत है तब भारत में सिर्फ सात औंस की। यदि दूध की

पैदावार में बारह फीसदी भी उन्नति हो जाय तो एक अरब साल की वृद्धि राष्ट्रीय आय में हो जायगी।

परन्तु पशुओं की उन्नति तो दूर उनकी चिकित्सा का भी कोई कारगर प्रबन्ध नहीं है। किसानों के लाखों जानवर हर साल तरह तरह की बीमारियों से मर जाते हैं। जितने जानवर अकाल मृत्यु से समुचित चिकित्सा द्वारा बचाये जा सकते हैं उनकी मौत से होने वाली हानि का हिसाब लगाया जाय तो करोड़ों रुपए साल तक पहुँचेगा। संयुक्त प्रान्त में जानवरों की बीमारी के मामले में तत्कालीन सरकारी सलाहकार कप्तान हिकी (Hiekey) साहब ने शाही कमीशन के सामने यह मंजूर किया था कि "अगर जानवरों की बीमारी का इलाज करने के लिए काफी इन्तिजाम हो तो कम से कम आधे जानवर हर साल मरने से बचाये जा सकते हैं! सूबे में कुल चार सौ अट्ठाईस आदमी जानवरों के इलाज के लिए रक्खे जायँ तो कुछ कम साठ लाख रुपए साल का नुकसान बचाने के लिए सरकार की तरफ से क्या प्रबन्ध था वह भी कप्तान साहब की जबानी सुनिये। "एक जिले में सिर्फ एक अस्पताल है। उनमें भी जानवर भरती करके उनका इलाज करने का कोई इन्तिजाम नहीं? जानवरों के अस्पताल ज्यादातर बुरे से बुरे मुहल्ले के बुरे से बुरे मकान में रक्खे जाते हैं। छूत से फैलने वाली बीमारियों से जानवरों की जान बचाने के लिए हर तहसील में एक असिस्टैन्ट पशुओं का डाक्टर हो तब भी बिलकुल नाकाफी है। लेकिन यहाँ तो जिले भर के लिए सिर्फ एक ही

डाक्टर होता है। एक अस्पताल पाँच मील से ज्यादा दूर रहने वालों की बहुत ही कम मदद कर सकता है, लेकिन यहाँ अस्सी-अस्सी नव्वे-नव्वे मील लम्बे-चौड़े जिलों के लिए सिर्फ एक ही अस्पताल है। सूबे में सफरी शफाखाने नहीं हैं। अगर जानवर यकायक बीमार पड़ जाय तो किसान डाक्टर को नहीं बुला सकता। जब तक डाक्टर पहुँचे तब तक जानवर मर जाता है। बीमारी फैलने पर पटवारी डाक्टर को रिपोर्ट करता है कि फलाँ गाँव में जानवरों की बीमारी फैली है। और पटवारियों की बाबत यह आम शिकायत है कि वे बीमारी की रिपोर्ट करने में देरी करते हैं, लापरवाही से काम लेते हैं। और डाक्टर के पास पटवारी की रिपोर्ट मिलने पर डाक्टर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन से इजाजत माँगता है। इजाजत मिलने पर वह गाँव में जाकर पता लगाता है कि क्या बीमारी है। इसके बाद वह गाँव वालों को इस बात के लिए राजी करता है कि वे जानवरों के टीका लगवावें। इसमें कामयाबी मिलने वह सरकार को टीके के लिए सीरम भेजने के लिए तार देता है। इस नौकरशाही घिसघिस में कम से कम एक महीना लग जाता है तब तक मर्ज मरीजों को लेकर चलता बनता है।

कप्तान हिकी साहब से जानवरों के इलाज का यह हाल सुन कर कमीशन के एक मेम्बर कार्ल्या साहब ने पूछा कि क्या ऐसी हालत में किसान इस महकमे से नफरत नहीं करते। इसके जवाब में कप्तान साहब को मंजूर करना पड़ा कि देरी की वजह

से किसान इस महकमें से उदासीन हैं। लेकिन बात सिर्फ देरी तक ही नहीं है। नौकरशाही घिसघिस बहुत दूर तक फैली हुई है। एक जिले में बीमारी फैलने पर जब डाक्टर ने सीरम के लिये तार दिया तो पता चला सूबे की सरकार के स्टाक में सीरम है ही नहीं। सीरम खरीदने के लिए रुपया मंजूर कराने में कई महीने लग गये।

अगर कई गाँवों में बीमारी एक साथ फैल जाय तो बेचारा डाक्टर कहाँ-कहाँ जाय। हजारों गाँवों के लिए एक डाक्टर कर ही क्या सकता है?

जानवरों के इलाज में देशी दवाओं से काम नहीं लिया जाता। विलायती दवाएँ इस्तैमाल की जाती हैं जो बहुत महँगी होती हैं। बहुत से मामलों में विलायती चिकित्सा की तालीम पाये हुए ये डाक्टर देशी चिकित्सकों के मुकाबिले में अपनी हँसी कराते हैं। शाही कृषि कमीशन के एक मेम्बर राजा रामपालसिंह ने इस विषय में एक मजेदार किस्सा सुनाया। एक मरतबा जब उनकी भैंस बीमार पड़ी तो उन्होंने उसे सरकारी डाक्टर को दिखाया। डाक्टर साहब ने भैंस के इलाज के लिए जो नुसखा लिखा उसकी कीमत बत्तीस रुपये थी और राजा साहब के कसबे में मिल भी नहीं सकती थी, लखनऊ से ही आ सकती थी। लाचार होकर राजा साहब ने जब तक विलायती दवा आये तब तक एक अहीर से अपनी भैंस का इलाज कराया। उसने कुछ पत्तियाँ खिला कर भैंस को चङ्गा कर दिया। डाक्टर साहब की बत्तीस रुपये की न मिलने वाली दवा की जरूरत ही न पड़ी।

स्वयं कप्तान हिकी साहब ने यह माना कि घोड़ों के इलाज के बारे में देशी शालहोत्री विलायती तालीम पाये हुए डाक्टरों से कहीं ज्यादा हुशियार होते हैं। लेकिन हिन्दुस्तान की सरकार ने आज तक देशी चिकित्सा पद्धति, देशी चिकित्सक और देशी औषधियों का पूर्ण बायकाट किया है ?

सच बात यह है कि अभी तक करोड़ों किसानों को यही पता नहीं कि जानवरों के इलाज के लिए भी कोई महकमा है। शाही कृषि-कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट में यह लिखा है कि 'अभी सरकारी पशु-फार्मों ने युवा साँड़ों की जरूरत को रफा करने में बहुत ही कम कामयाबी हासिल कर पाई है।' इसी कमीशन के चेयरमैन दस बरस बाद जब लार्ड लिनलिथगो और हिन्दुस्तान के वायसराय होकर यहाँ आये तब उन्होंने साँड़ों के प्रबन्ध का विशेष उद्योग किया। लेकिन आज १९४५ में भी हिन्दुस्तान में अच्छी नस्ल के साँड़ों की समस्या उतनी भी हल नहीं हुई है जितनी इङ्गलैण्ड में जनता के राज और आर्थिक लोकतन्त्र तथा आर्थिक स्वाधीनता की।

सरकारी अकाल कमीशन की राय है कि किसानों को अकाल से बचाने का एक मात्र उपाय घरेलू धन्धे हैं। घरेलू तथा सहकारी धन्धों के बिना किसानों की आर्थिक स्वयं पर्याप्तता की समस्या कदापि हल नहीं हो सकती। संसार भर में सर्वत्र किसान खेती के अलावा दूसरे धन्धों का सहारा लेते हैं। यूरुप के बहुत से देशों में अब तक वहाँ के किसान उनकी औरत चरखा चलाती हैं और कपड़े तथा ऊनी मोजे वगैर बुनती हैं,

लाख बनाती हैं, जरी वग़ैरः का काम करती हैं। चटाई, टोकनी, बर्तन वग़ैरः बनाती हैं। लकड़ी की और चमड़े की चीजें भी तैयार करती हैं। जिन मुल्कों में बड़े पैमाने के कारखानों में सब माल बनने लगे हैं, उन मुल्कों में भी छोटे-छोटे घरेलू उद्योग-धन्धे अभी तक नष्ट नहीं हुए।

मिस्टर माल्कमलयाल डार्लिङ्ग आई० सी० एस० की राय है कि किसानों के तरकश में जब तक खेती के अलावा दूसरा तीर न हो तब तक पञ्जाब के जमींदार-किसान कर्ज की फाँसी से बरी नहीं हो सकते और यह याद रहे कि पञ्जाब के जमींदार-किसान हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा आसूदा किसान माने जाते हैं। डार्लिङ्ग साहब का कहना है कि बिला शक दूसरे मुल्कों की तरह हिन्दुस्तान में भी छोटी जोत वाले किसानों का गुजारा महज़ खेती से नहीं हो सकता। अगर किसानों के तरकश में खेती के अलावा दूसरा तीर नहीं हुआ तो वे बोहरों के फन्दे में फँसे बिना नहीं रह सकते।

पुराने घरेलू धन्धों की तरक्की करने और नए घरेलू धन्धे चलाने की ज़रूरत हिन्दुस्तान के सभी ग्रामीण अर्थशास्त्राचार्य एकमत से स्वीकार करते हैं। लेकिन हिन्दुस्तान की सरकार ने इन घरेलू धन्धों को पुनरुज्जीवित करने तथा नए धन्धे चलाने के लिए क्या किया? इस विषय में सरकार की नाकामयाबी और उपेक्षा लज्जाजनक है? सर विश्वेश्वरम् ऐयर ने अपनी Reconstructing India नामक पुस्तक में लिखा है कि दूसरे मुल्कों में वहाँ की सरकारें किसानों के घरेलू धन्धों को तरह-तरह

से मदद देती हैं। दूसरे मुल्कों के माल के बेजाँ मुकाबिले से उन्हें बचाती हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में यहाँ की सरकार हिन्दुस्तानी धन्धों को सजा देती है। जब कि कनाडा तमाम विदेशी माल पर टैक्स लगाता है तब हिन्दुस्थान में बनने वाले रेशमी कपड़े पर अब तक चुङ्गी लगती थी। पूर्वी कनाडा में वहाँ की म्यूनि-स्पैलिटियों ने घरेलू धन्धों को तरह-तरह की सहूलियतें दे रक्खी हैं लेकिन हिन्दुस्तान की सरकारें हिन्दुस्तान के रोजगारों को मदद देने में बड़ी कंजूसी से काम लेती है।"

यह कौन नहीं जानता कि हिन्दुस्तान की रेलें हिन्दुस्तान में विलायती माल बेचने और उस माल के मुकाबिले में हिन्दुस्तान के घरेलू धन्धों को बरबाद करने में ज़बरदस्त साधन बनी हैं। १६१६ की इण्डिया ईअरबुक में लिखा है कि "यूरुप की मौजूदा तरक्की ने हिन्दुस्तान की कुछ बहुत भीतरी जगहों को छोड़ कर बाकी जगहों में लोहे, स्टील, शीशे वग़ैरः के उन धन्धों को जो किसी समय खूब चमक रहे थे बिल्कुल बरबाद कर दिया है। सर विश्वेश्वरैय्यर का कहना है कि माल पर रेल का किराया मुक़र्रिर करने की नीति में ऐसा हेर-फेर होना चाहिये कि जिससे यह न मालूम हो कि रेलवे महज़ हिन्दुस्तान के माल को बाहर भेजने में उस व्यापार को मदद देने के लिए बनाई गई हैं, जो विलायती लोगों के हाथ में हैं।

जापान ने उद्योग-धन्धों में जो चमत्कारिक सफलता कर दिखाई है उसका मुख्य कारण यह है कि वहाँ के व्यापारियों और सरकार ने एक दूसरे से मिल कर काम किया। वहाँ तमाम

प्रारंभिक रोजगार वास्तव में सरकार ने ही शुरू किये थे और शुरू के कई साल तक उनका नुक़सान भी सरकार ने ही बरदाश्त किया। साथ ही विदेशों के माल पर टैक्स लगा कर इन धन्धों की रक्षा भी की गई। इङ्गलैण्ड में उन्नति (Development) के लिए जो कमीशन बिठाया गया था उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि किसानों के घरेलू धन्धों को चेताने में जर्मनी ने जो इतनी ज्यादा तरक्की कर दिखाई इसकी ख़ास वजह यही थी कि वहाँ खास तौर पर इन्हीं धन्धों की तरक्की और सहायता के लिये एक सरकारी महकमा मुकर्रर किया गया और इस महकमे ने बड़ी मेहनत से लगातार ऐसा इन्तिजाम किया कि जिनसे लोगों को अपने धन्धों के बारे में सब तरह की शिक्षा, सूचनाएँ और सलाहें मिलती रहीं।

१६१६ में हिन्दुस्तान के व्यवसायों की तरक्की के उपाय सोचने के लिए एक शाही कमीशन बिठाया गया था। इस कमीशन ने घरेलू धन्धों की तरक्की के लिए कई शिफारिशें कीं लेकिन आज तीस बरस होने आये उनमें से कितनी शिफारिशों पर अमल किया गया ? असल में घरेलू धन्धों की तरक्की के लिए एक सुव्यवस्थित योजना की और उस योजना को पूरा करने के लिए हर सूबे में पाँच साल तक कई-कई करोड़ रुपये साल खर्च करने की ज़रूरत है। लेकिन अभी तक रुपया तो दूर हिन्दुस्तान की सरकार और सूबे की सरकारें किसानों के घरेलू धन्धों की तरक्की के लिये कोई अच्छी योजना तक नहीं बना पाई हैं।

फलों की खेती, व्यापारिक बागवानी और तरकारी की खेती के लिए हिन्दुस्तान में तरक्की की बहुत गुञ्जाइश है। इस विषय के विशेषज्ञों का कहना है कि किसानों के पैरों के नीचे सोने की खान है लेकिन दुर्भाग्य से यहाँ की सरकार ने देश के किसानों को अभी तक यही नहीं बताया कि वे इस मामले में क्या करें ?

जङ्गलों से खेती को बहुत फायदा पहुँचता है। उनसे किसानों को मकान तथा खेती के औज़ार वग़ैरः बनाने को लकड़ी मिलती है और जलाने को ईंधन, जिससे गोबर की खाद बचती है। पत्तियों को खाद मिलती है और जानवरों को चारा। साथ ही ये जङ्गलात बरसात के पानी को रोकते हैं, नमी रखते हैं और जमीन को कटने से बचाते हैं। इन सब दृष्टियों से चाहिए तो यह था कि जंगल रखाये और जमाये जाते लेकिन हुआ यह कि भारत-सरकार के शासन के पिछले दो सौ बरस में यहाँ के जंगल बिल्कुल साफ हो गये। मिस्टर ट्राउन्स्कोल्ड (Tronscold) का कहना है कि "जिन जंगलों में बादशाह बाबर बारह सिंहों की शिकार खेला करता था वहाँ अब बड़े-बड़े खारों के सिवा और कुछ नहीं है।" मिस्टर बैनाकिन (Benakin) आई० सी० एस० का कहना है कि "पहले हिन्दुस्तान का ज्यादातर हिस्सा जंगलात से हरा-भरा रहता था लेकिन जो जिले पहले जंगलों से सुरक्षित थे उनमें अब पत्ता तक नहीं दिखाई देता।" हिन्दुस्तान के एक भूतपूर्व लैफ्टीनैन्ट गवर्नर आर्थर फैल्प (Arthur phalp) साहब का कहना है कि

"जो ज़मीनें आजकल बिना जंगल के पड़ी हुई हैं उनमें जंगल न जमा कर हिन्दुस्तान की सरकार ने जो अपराध किया है उसके लिए मैं कभी क्षमा नहीं कर सकता।"

अकेले संयुक्त प्रान्त में, खासकर जमुना और चम्बल के खार पाँच लाख एकड़ से लेकर दस लाख एकड़ तक हैं। इनकी वजह से हर साल कई सौ बीघा खेती मारी जाती है। इनकी ऊसर जमीन को चारे और ईंधन का भण्डार बनाया जा सकता है। उसमें घास उगाई जा सकती है। बबूल बोये जा सकते हैं। बबूल ईंधन और लकड़ी के काम में तो आता ही है उसकी छाल भी काम में आ सकती है।

जङ्गलात को खेती का सखा कहा जाता है। दूसरे मुल्कों की सरकारों ने अपने यहाँ के किसानों के लिए ईंधन, लकड़ी चारे वग़ैरः का इन्तिजाम करने के उद्देश से काफी जङ्गल लगाये हैं। अगर कोई फ्रांस, आस्ट्रिया, जर्मनी, टाइरोल और स्विटजरलैंड वग़ैरः में सैर करे तो उसे हर जगह दरख्तों की कतारें या बड़े-बड़े जङ्गल दिखाई देंगे। इन जङ्गलों से आस पास के सब गाँवों के लोग ईंधन लकड़ी ले सकते हैं। इन मुल्कों की सरकारों ने इस बात का क़ाफी ख्याल रक्खा कि मुल्क के जङ्गलात बरबाद न होने पावें। जहाँ जङ्गल मिट गये वहाँ जङ्गल जमा कर वहाँ की सरकारों ने चारे का सवाल हल कर दिया और हर जिले में लकड़ी ईंधन का काफी इन्तिजाम हो गया।

सुखी भारत (Happy India) में लेखक आरनोल्ड लप्टन साहब ने लिखा है कि "हिन्दुस्तान में कोयले और लकड़ी दोनों की बहुतायत है। सिर्फ लोगों की बेहद गरीबी और सरकार की लापरवाही की वजह से किसानों की झोंपड़ियों में ईंधन कोयले और लकड़ी की कमी है।

ईंधन के सवाल को हल करना मुश्किल नहीं है। जिन गाँवों में सिंचाई का इन्तिजाम है उनमें दो साल के अन्दर इतना जङ्गल लगाया जा सकता है जिससे उपलों से ज्यादा लकड़ियाँ मिल सकें। तार वगैरः लगाने का खर्च शामिल करके जङ्गल लगाने का खर्च सिर्फ अस्सी रुपया एकड़ पड़ता है। इसमें काफी किफायत हो सकती है। इतने थोड़े रुपए में तीन-चार साल में खासा अच्छा चरागाह तैयार हो जाता है और पेड़ सात फीट के हो जाते हैं। लेकिन सरकार ने न सिर्फ नये जङ्गल लगाने का यह किसान-हितकर काम अभी तक पूरा किया है बल्कि उसके जङ्गलात महकमे के कायदे ऐसे हैं कि उनमें भारी रद्दोबदल किये बिना जो जङ्गल हैं उनसे भी किसानों को पूरा-पूरा फायदा नहीं पहुंच पाता ?

महकमा जङ्गलात जितना अपने फायदे की तरफ़ देखता है उतना किसानों के हितों की तरफ नहीं। फल स्वरूप उसके और अड़ोस-पड़ोस के खेत वाले किसानों में अक्सर मुठभेड़ हुआ करती है। महकमा जङ्गलात की उस पैदावार को भी व्यापारियों के हाथ बेचने से नहीं हिचकिचाता जो किसानों के

लिए जरूरी है। व्यापारी लोग इस पैदावार को खरीद कर विलायत भेज देते हैं।

इस महकमे के कायदे इतने सख्त हैं कि जङ्गलात के किनारे पर बसे हुए गाँवों के किसानों की जान मुसीबत में रहती है महकमे के अहलकारों द्वारा होने वाली तङ्गी और परेशानी को बरदाश्त करना मुश्किल है। संयुक्तप्रान्त के जंगलात के चीफ कमिश्नर ने शाही कृषि-कमीशन के सामने यह मंजूर किया था कि कायदों की दुरुस्ती के वक्त ऐसी कोई कमेटी या दूसरी किस्म का जरिया नहीं है जिससे इन कायदों के बारे में किसानों से सलाह ली जा सके। ये कायदे कलक्टर, कमिश्नरों की मंजूरी से जरूर बनते हैं लेकिन कलक्टर-कमिश्नर किसानों की क्या चलाई किसी भी ग़ैर-सरकारी व्यक्ति से सलाह लेना अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं। इन चीफ़ कमिश्नर साहब ने यह भी कहा कि "घास, लकड़ी, ईंधन वग़ैरः किसान की जरूरत की चीज़ों पर रेल का किराया इतना ज्यादा होता है कि जिससे वे किसानों के पास मुनासिब दामों पर नहीं भेजी जा सकतीं। रेल किराये की वजह से ही गोरखपुर के जंगलों में लकड़ी पड़ी सड़ा करती है जब कि सूबे के हजारों गाँवों में लोग उसके लिए तरसते हैं। घास पर रेल इतना भाड़ा लेती है कि उसके बन्डल बना देने पर भी वह पचास मील से ज्यादा दूरी पर नहीं भेजी जा सकती।

श्रीयुत् एस० केशव अयङ्गर ने अपनी (Studies in Indian Rural Economics) नामक पुस्तक के छठवें अध्याय

ने लिखा है कि:—"हमारे देश में जंगलात के धन्धों की उन्नति अभी शिशु अवस्था में भी नहीं पहुँच पाई हैं। अभी तो महज़ अँधेरे में प्रयोग हो रहा है। जंगलात में व्यवसायों का असीम क्षेत्र है। उनकी पैदावार से तरह-तरह के रंग बनाए जा सकते हैं, कागज़ और दियासलाई का रोज़गार चल सकता है, पैंसिलें बनाई जा सकती हैं। जंगलात से सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी समस्याओं की तरफ़ अभी तक सरकार का ध्यान भी नहीं गया? विदेशों में जंगलात की शिक्षा पाये हुए लोग हिन्दुस्थानी जंगलों की समस्याओं को हल करने में दक्ष नहीं होते। इन शिक्षित विशेषज्ञों से तो पेड़-पौधों की जरूरतों की बाबत हमारे देश में अनपढ़ किसान अधिक जानते हैं!"

सरकार की तरफ से अभी तक इस बात का कोई कारगर प्रबन्ध नहीं हो पाया है कि किसानों को उनकी पैदावार की पूरी कीमत मिले। जिन किसानों के कर्ज़ वगैरः में खड़े खेत बिक जाते हैं या खलिहान में ही कुड़क हो जाता है उनका तो कहना ही क्या है लेकिन जो सौभाग्यशाली किसान इन मुसीबतों से बच जाते हैं उनको भी अपने नाज की ठीक-ठीक कीमत नहीं मिलती। उनके पास बाज़ार के भाव की ठीक-ठीक इत्तिला पहुंचने का कोई माकूल इन्तिज़ाम नहीं है। न उनके लिये शहर में अपना माल लाने का ही ठीक-ठीक इन्तिजाम है! शाही कृषि कमीशन ने गाँवों के लिए सड़कों का इन्तिजाम करने पर बहुत ज़ोर दिया था लेकिन आज लगभग बीस बरस बाद तक

भी इस दिशा में अभी हुआ कुछ नहीं ! सिर्फ पुनस्संगठन की लम्बी-चौड़ी योजनाओं के सब्ज़-बाग दिखाये जारहे हैं ।

रेल या जहाजों के किराये, सरकार की चुङ्गी और प्रचलन (करैंसी) की नीति इत्यादि भी किसानों के हितों की दृष्टि से निर्धारित नहीं होतीं अनेक बार उनसें किसानों को भारी हानि उठानी पड़ती है। सैमहिगिन बॉटम साहब ने शाही कमीशन से शिकायत की कि खेती की पैदावार भेजने के लिए रेल के डब्बे स्टेशन वालों को रिश्वत देने पर ही मिलते हैं । इससे पैदावार भेजने का खर्चा बहुत बढ़ जाता है। तथा उसे भेजने में बड़ी दिक़्क़त होती है । रेलों में माल की खूब चोरी होती है और रेलवे नुक़सान का हर्जाना नहीं देती । घी, फल वग़ैरः की टोक-नियों को जान बूझ कर ऐसी बुरी तरह फेंका, पटका जाता है कि जिससे वे टूट कर खुल जायँ और उनमें से जो कुछ निकले उसे हथिया लिया जाय। मामूली तौर पर माल काफ़ी अच्छी तरह बाँधा और रक्खा जाता है फिर भी उसकी यह दशा होती है ! किसान अक्सर साँड़ मँगाना चाहते हैं लेकिन रेल और जहाज के भाड़े की वजह से नहीं मँगाते । इससे जानवरों की तरक्की के काम में बहुत रुकावट पड़ती है। स्टेशनों पर माल रखने का भी ठीक इन्तिज़ाम नहीं होता । पानी बरसने पर खुले में पड़ा हुआ नाज भीग जाता है और उसमें कुल्ले निकल आते हैं जिससे बहुत नुक़्सान होता है। वैज्ञानिक खाद का रेल भाड़ा भी उतना सस्ता नहीं है जितना होना चाहिए ।

एक भुक्तभोगी गवाह ने कमीशन से कहा:—"माल पर रेल

के भाड़े की दरें ऐसी विचित्र हैं कि देश के अन्दर एक शहर से दूसरे कम फासले के शहर को माल भेजने में उससे ज्यादा किराया देना पड़ता है जितना कहीं ज्यादा दूर के फासले वाले बन्दरगाह को भेजने में देना पड़ता है। दूध वग़ैरः पर तो रेल-भाड़ा ऐसा है कि उनका व्यापार चल ही नहीं सकता। आगरा से लुधियाना खल भेजिए तो आठ आने मन किराया लगता है, लेकिन कालें कोसों दूर बम्बई भेजिए तो सिर्फ नौ आने मन। फिर ई० आई० आर० जिस चीज को दो सौ मील ले जाने का किराया सात आने मन लेती है, आर० के० आर० उसी चीज का उतनी दूर का किराया एक रुपए सात आने मन लेती है ? आगरा से रोहतक सिर्फ डेढ़ सौ मील है। वहाँ से रेल से दूध की गायें मँगाई गईं तो आठ दिन लग लए ! फलस्वरूप आधी गायें सूख गईं !

बाहर से आने वाले और बाहर जाने वाले माल पर ली-जाने वाली चुङ्गी और जहाज़ों के भाड़े का खेती की उन्नति पर बहुत असर पड़ता है क्योंकि इनका खर्च किसानों की पैदावार की कीमत को घटाता-बढ़ाता है। ये कर हिन्दुस्थान के किसानों की भलाई-बुराई का ख्याल करके लगाए जाने चाहिए न कि किसी दूसरे मुल्क के हितों का ख्याल करके।

किसानों की पैदावार को कूतने की सरकारी प्रणाली बहुत ही दोष-पूर्ण है। यह काम पटवारियों के सुपुर्द है। इन पटवा-रियों को न तो ऐसी कोई गरज़ ही है, न उनके पास इतना समय है कि वे इस काम को ठीक तरह से करें क्योंकि इस काम

के लिए उन्हें अलग कोई भत्ता नहीं दिया जाता। फलतः पटवा-रियों के दिए हुए आँकड़े विश्वास-पात्र नहीं हो सकते। पञ्जाब सरकार के फाइनैंशियल कमिश्नर मिस्टर सी० एम० मिङ्का आई० सी० एस० का कहना है:—"जब बँदोबस्त को छोड़ कर बाकी मामलों में सरकारी अङ्क विश्वास योग्य नहीं होते तब बँदो-बस्त के अङ्कों पर भी विश्वास किया जाना चाहिये या नहीं इस बात में भी मुझे सन्देह है। सब मामला सहकमा माल के अफ-सरों पर छोड़ दिया जाता है।" इन बातों के बावजूद भी नहर के पानी के बारे में पतरौलों की और फसल तथा फसल की पैदावार वग़ैरः के बारे में पटवारियों की रिपोर्ट ब्रह्मवाक्य मान ली जाती है।

प्लेग, हैज़ा, चेचक, मलेरिया वग़ैरः तरह-तरह की बीमारियों से हर साल बीसियों लाख आदमी मक्खियों की मौत मरते हैं। इन अकाल मृत्युओं से धन-जन की भारी हानि होती है। लन्दन की अर्थशास्त्र को बी० एस-सी० श्रीमती वीरा ऐन्स्टी (Vera Ansty) ने अपनी The Economical development of Ihdia 'भारत का आर्थिक विकास' नामक पुस्तक में इन बीमारियों को गरीबी की बीमारियाँ कहा है। उन्होंने लिखा है कि पब्लिक के स्वास्थ्य और उनकी आर्थिक दशा का एक दूसरे पर घात प्रतिघात होता है। आमतौर पर जिस देश के लोगों की तन्दुरुस्ती खराब हो वहाँ की प्रति व्यक्ति आमदनी भी अवश्य ही कम होगी। इन बीमारियों को मिटाने या घटाने से किसानों की

माली हालत बहुत कुछ सुधर सकती है। संयुक्त प्रान्त के स्वास्थ्य-विभाग के एक भूतपूर्व सञ्चालक मिस्टर डन ने 'बीमारियों की रोक का आर्थिक मूल्य' (The economic value of the Prevention of desease) शीर्षक लेख में इस बात को अच्छी तरह प्रतिपादित किया है। हिन्दुस्तान के इंडस्ट्रियल कमीशन का कहना है कि "यह सभी मानते हैं कि कोई भी देश जितनी तन्दुरुस्ती खरीदना चाहे खरीद सकता है। उसी कमीशन का यह भी कहना है कि तन्दुरुस्ती खरीदने में जो बड़ी रकमें खर्च होंगी वे अन्त में मुनाफा देंगी।" संयुक्त प्रान्त के स्वास्थ्य-विभाग के उपर्युक्त एक भूतपूर्व डाइरैक्टर डन साहब का कहना है कि "अगर हिन्दुस्तान में तन्दुरुस्ती के नियमों का उसी हद तक पालन किया जाय जिस हद तक इङ्गलैण्ड में किया जाता है और यहाँ भी सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए उतना ही खर्च किया जाय जितना वहाँ किया जाता है तो हिन्दुस्तान में बीमारियों से मरने वालों की तादाद इङ्गलैंड से ज्यादा नहीं हो सकती। श्रीमती वीरा ऐन्स्टी का कहना है कि "हैजा, प्लेग, चेचक, पेचिश, अतिसार ये सब ऐसी बीमारियाँ हैं जो मिटाई जा सकती हैं। पश्चिमी देशों में मिटाई जा चुकी हैं। एफ० एल० ब्राइफ साहब का कहना है कि सङ्गठन और कड़ी मेहनत से प्लेग फौरन काबू में आ जाती है, अगर माकूल इन्तिजाम किया जाय तो कामयाबी निश्चित है। आर्नोल्ड लपून साहब का कहना है कि एक अँग्रेज इञ्जीनियर ने जो हिन्दुस्तान में एक बड़े सूबे का इञ्चार्ज था, मुझसे यह कहा था, मैं जब और जिस जिले में चाहूं तब वहाँ के निवासियों

के पीने के लिये साफ पानी का इन्तिजाम करके हैजे को भगा सकता हूं। लेकिन हिन्दुस्तान की सरकार इस काम में तय शुदा रुपये से ज्यादा खर्च ही नहीं करने देती। श्रीमती वीरा ऐन्स्टी का कहना है कि दूसरे किसी भी किस्म के व्यापारिक, औद्योगिक और राज सम्बन्धी सुधारों से जितना आर्थिक लाभ होगा उससे कहीं अधिक आर्थिक लाभ इन दूर हो सकने वाली बीमारियों को दूर करने से होगा। लेकिन हिन्दुस्तान की सरकार और सूबे की सरकारों ने इन बीमारियों को घटाने-मिटाने के लिए जितना प्रयत्न करना चाहिये उसका दशांश भी नहीं किया। आर्नोल्डलप्टन साहब ने लिखा है कि—हिन्दुस्तान के मैडीकल अफसर बहुत दिनों से यह जानते हैं कि टीके से चेचक नहीं मिट सकती। लेकिन क्योंकि टीका लगाने में कम खर्च पड़ता है इसलिए वे टीका लगाकर अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं और चले जाते हैं। चेचक का टीका लगाने का खर्च फी कामयाब टीका सिर्फ छः आना है। इन्हीं आरनोल्ड लप्टन साहब का कहना है कि "अगर मलेरिया मार भगाया जाय तो हिन्दुस्तान बहुत ही सुन्दर देश हो जाय। मलेरिया के फैलने में रेलें और नहरें बहुत बड़े कारण हैं। इनकी वजह से जो पानी भर जाता है उसे नालियाँ बनाकर निकाल देने का इन्तिजाम होना चाहिये तथा जो गड्ढे होते हैं उन्हें भर देना चाहिये। हौलैण्ड और इङ्गलैण्ड वगैरः में ऐसा पानी पम्प द्वारा निकाला जाता है। हिन्दुस्तान की सरकार अगर यह नहीं कर सकती तो लोगों को मसहरी दे। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हिन्दुस्तान के

हुक्काम पब्लिक के स्वास्थ्य के सवाल पर समुचित ध्यान दें। अगर वे दूसरे फ़िज़ूल के मामलों में अपनी शक्ति बरबाद करने के बदले इन सवालों में दिमाग़ लगावें जिनका लोगों के स्वास्थ्य और उनकी भलाई से सम्बन्ध है तो हिन्दुस्तान स्वास्थ्य-निकेतन बन सकता है।" Happy India P. 129. उन्होंने आगे कहा है "जिन लोगों के हाथों में इस समय शासन की बागडोर है उनको अपने हुशियार इञ्जीनियरों को हुक्म देने भर की देर है, हुक्म देते ही मौत, बीमारी और मुसीबत ये सब काफ़ूर हो सकते हैं। अगर ब्रिटिश सरकार लोगों की जान बचाने के लिए रुपये का इन्तिज़ाम नहीं कर सकती तो बहतर है कि वह इस्तैफा देकर चली जाय।" पृष्ठ १३३।

लेकिन हिन्दुस्तान में तो ऐसा मालूम होता है कि यहाँ की सरकार राज से इस्तैफा देने के बदले लोगों की जान बचाने के काम से इस्तैफ़ा देना ज्यादा पसन्द करती है। संयुक्त प्रान्त के स्वास्थ्य-विभाग के भूतपूर्व डाइरेक्टर डन साहब ने कहा था कि इस सूबे के लिए तीन लाख बीस हज़ार पौण्ड कुनैन चाहिये लेकिन सन् १६२१ में हिन्दुस्तान की सरकार के पास हिन्दुस्तान भर के लिए सिर्फ इसकी आधी कुनैन थी। संयुक्त प्रान्त में डन साहब के कथनानुसार सिर्फ एक फी सदी आदमी को कुनैन मिल पाती है। उनका कहना था कि मलेरिया को कम करने के लिए सरकार बहुत कुछ कर सकती है लेकिन बहुत समय तक मलेरिया विरोधी क्रियाओं का खर्च सरकार को गाँवों में कुछ नहीं करने देगा।

संयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों में हुकवार्म (Hookwarm) कृमि-रोग नाम की बीमारी बहुत ज्यादा होती है। उन जिलों के छियासी फी सदी किसान इस बीमारी से कष्ट पाते हैं—वे पीले पड़ जाते हैं, उनके शरीर में खून बिल्कुल नहीं रह जाता। वे बहुत कमज़ोर हो जाते हैं। यह बीमारी गरीबी की वजह से होती है। बेचारे किसानों के पास इतने पैसे नहीं कि जूते खरीदें। वे नंगे पैरों रहते हैं और इस बीमारी के कीटाणु मल से निकलते हैं और पैरों में होकर शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। डन साहब की राय है कि गाँवों से इस बीमारी को दूर करना मुमकिन नहीं है। पेट की सब बीमारियों का कारण साफ पानी का न मिलना है लेकिन सरकार बीमारियों को दूर करने के लिए साफ पानी का इन्तिज़ाम खर्च के नाम पर नहीं करती। यद्यपि डन साहब के कथनानुसार पब्लिक की तन्दुरुस्ती के कामों के लिये खर्च होने में उन्हें कौंसिल हमेशा मदद देती है। जब इंगलैण्ड की सरकार पब्लिक की तन्दुरुस्ती के लिए हर साल छियासी करोड़ अस्सी लाख रुपया खर्च करती थी तब उतनी ही आबादी वाले संयुक्त-प्रान्त में उन्हीं दिनों में करीब सिर्फ पन्द्रह लाख साल खर्च किया जाता है।

शाही कृषि-कमीशन का कहना है कि गाँवों में सफाई का कुछ इन्तिज़ाम ही नहीं है। जबकि गाँव वालों को और किसी मामले में सरकार की मदद की इतनी ज़रूरत नहीं है जितनी दवाइयों और इलाज के मामले में।

ग्राम-पञ्चायतें जो कभी भारत के गाँवों का गौरव और जीवन

थीं, आज नष्टप्राय हो गई हैं। पञ्चायतों की आज्ञा मानने की आदत जिनकी रग-रग में घुसी हुई थीं, जो पंच परमेश्वर कहने और मानने के हजारों बरस से आदी थे आज उनके यहाँ पंचायतें नहीं चल पातीं। नई सरकारी पञ्चायतें संयुक्तप्रान्त में ही बिल्कुल बेकार साबित होरही हैं।

किसानों की रक्षा के लिए कानून या अदालत वग़ैरः जो कुछ है वे भी उनकी रक्षा नहीं कर पाते। मौजूदा शासन-प्रणाली में ये सब काम अदालतों के जरिए होते हैं और अदालतों में इतना खर्च होता है, उनमें इतनी देर लगती है कि ग़रीब किसान उनकी मदद नहीं ले सकते। संयुक्तप्रान्त की सरकार ने शाही कमीशन के सामने जो रिपोर्ट पेश की उसमें यह लिखा है कि:—

यूजर्स लोन्स एक्ट से किसानों को बहुत कम फायदा पहुंचा है क्योंकि बेचारे किसानों के लिए अदालत की मशीन को घुमाना आसान काम नहीं है।

और तो और रक्षक भी भक्षक बने हुए हैं। सरकार की तरफ से जो अहलकार किसानों की सेवा के लिए रक्खे जाते हैं वे ही उन्हें तरह-तरह से सताते हैं। मिस्टर एस० एन० ए० जाफरी ने अपनी किताब में लिखा है कि, "यह ख्याल किया जाता है कि बहुत कुछ मुकदमेबाजी के लिए खासतौर पर पटवारी ज़िम्मेदार हैं। वे किसानों के आर्थिक जीवन को घुन की तरह खाये जा रहे हैं। पटवारी रिश्वत लेकर किसानों के कागज़ात में गड़बड़ी कर देते हैं। माल की अदालतों में इस गड़बड़ी की वजह से, हजारों मुकदमे चलते हैं। खेत जोतता है जमी-

दार लेकिन पटवारी के कागजात में नाम लिखा होता है बेचारे किसान का। सैमहिगिन बॉटम साहब ने तो यहाँ तक कहा है कि छोटे किसानों के सवाल पर सोचने के वक्त आपको मालूम होगा कि उनका सवाल खेती की तरक्की का सवाल नहीं बल्कि तरह-तरह की ग़ैर-कानूनी लूट से उन्हें बचाने का सवाल है। मिस्टर ब्राइन आई० सी० एस० का कहना है कि "मैं यह जानना चाहता हूं कि किसान यह शिकायत करते हैं कि सरकारी न्याय की तराजू का पलड़ा रुपये वालों की तरफ झुकता है। वे कहते हैं कि दीवानी के जज रुपए वालों का पक्ष करते हैं। अपढ़ किसान के मुकाबिले में हैसियतदार साहूकार की गवाही सच मानते हैं—मैं समझता हूँ कि अधिकारीवर्ग में सच्चे किसानों के उतने प्रतिनिधि नहीं हैं जितने होने चाहिए। चौधरी लालचन्द ने तो शाही कृषि कमीशन के सामने अपनी गवाही में यहाँ तक कहा कि "मुझे ऐसे मामले मालूम हैं जिनमें सरकार की मर्जी के खिलाफ भी हाकिमों ने किसानों के विरुद्ध पक्षपात से काम लिया है।"

न्याय की वर्त्तमान सरकारी प्रथा किसानों के लिए अत्यन्त अन्याय और अत्याचार-पूर्ण है। नीचे की अदालतों में जमींदार-वर्ग के लोग ही फरियादी होते हैं और उसी वर्ग के लोग न्यायकर्त्ता, न्याय करने वाले और इन्तिज़ाम करने वाले हाकिम एक ही हैं। इन्तिज़ामिया निगाह से जो हाकिम पुलिस के कहने से किसानों पर मुकद्दमा दायर करते हैं वे ही उन मुकद्दमों का फैसला करते हैं। ऐसी हालत में न्याय कैसे हो सकता है?

ज्यादातर मामलों में जो पुलिस कहती है वही होता है। खासकर एकसौ दस वग़ैरः के मुकदमों में।

किसानों पर इन अहलकारों का असर बहुत बुरा पड़ता है, 'यथा राजा तथा प्रजा' यह कहावत मशहूर है। मिस्टर डार्लिङ्ग का कहना है कि किसानों पर खासतौर पर उन लोगों का बहुत बड़ा असर पड़ता है जो सामाजिक पद में उनसे ऊँचे होते हैं! जहाँ जाटों की बस्ती है वहाँ राजपूत भी जाटों के असर से अच्छे किसान बन गए हैं लेकिन जहाँ राजपूतों की बस्ती है वहाँ के जाट भी उनके बुरे असर से बिगड़ गये हैं। जालन्धर में जाट अच्छे हैं, वहाँ अराँयन भी क़र्ज़ से बरी हैं, लेकिन फिरोजपुर के जाट फिजूलखर्च हैं इसलिए वहाँ के अराँयन भी कर्ज़ से बँधे हुए हैं।

सरकारी अहलकारों की बाबत किसान क्या ख्याल करते हैं और उनके मन पर इन लोगों की जिन्दगी का क्या असर पड़ता है यह सरदार हरदत्तसिंह के उस बयान से मालूम हो जाता है जो उन्होंने शाही कृषि कमीशन के सामने दिया था उन्होंने कहा:—"इंसान अपनी वंश परम्परा और देश कालावस्था का दास है। मध्यम श्रेणी के नवयुवक इस नियम से बरी नहीं, ये लोग ज्यादातर अधपढ़े होते हैं यानी सिर्फ एन्ट्रेंस पास। उन्हें अपना पास-पड़ौस आकर्षक नहीं मालूम होता। गाँववालों का सादा जीवन उन्हें अच्छा नहीं लगता। वे जिलेदार, थानेदार और तहसीलदार वगैरः की जिन्दगी को अपना आदर्श बनाते हैं।

यद्यपि खेती करने का माद्दा उनको अपने पूर्वजों से विरासत में मिलता है फिर भी चूँकि वे यह देखते हैं कि इस पेशे में न तो इतनी आमदनी ही है और समाज में उसकी कुछ इज्जत ही इसलिए वे उपर्युक्त अहलकारों की जिन्दगी से अपनी जिन्दगी का मुकाबिला करते हैं और स्वभावतः इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि खेती का धन्धा बेकार है। वे यह जानते हैं कि ये अफसर उन्हीं की समाज के उन्हीं की श्रेणी के हैं। कुछ तो उनके सगे रिश्तेदार हैं। ऐसी हालत में इन अफसरों के बेतहाशा रौब-दौब और ऐश-आराम को देख कर उनका मन खेती के धन्धे से हट जाता है। जब तक मध्यम श्रेणी के किसान की आमदनी और तहसीलदार की आमदनी बराबर न होगी तब तक यही प्रगति जारी रहेगी। किसान-कुमारों का मन गाँवों से फेरने वाले इन कारणों को मिटा देना चाहिये। कम से कम इनका बुरा असर तो दूर कर ही देना चाहिये।"

इस तरह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था न केवल किसानों की राजनैतिक दासता पर ही आधारित है बल्कि उसमें किसानों के आर्थिक शोषण के साथ-साथ उनकी मानसिक दासता की भी जड़ जमती जा रही है। उनका आत्मिक अधःपतन हो रहा है, जीवन के मूल्यों और आदर्शों के सम्बन्ध में वे पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं।

इङ्गलैण्ड के कंजर्वेटिव-दल के दो राइट आनरेबिल अल्फ्रेड लार्ड एल० एल० डी०, एम० पी० का कहना है कि "किसी भी देश में कर्ज लिये हुए सरकारी रुपये से खेती की तरक्की में मदद

देना हर तरह से अनेक धन्धे में रुपया लगाना माना जाता है और दुनियाँ के जितने मुल्कों की बाबत मैं जानता हूँ उन सबमें इस तरह रुपया लगा देने पर सरकार को पैदावार बढ़ती के रूप में कई गुना फायदा हुआ है।"

अँग्रेज़ इंजीनियर आर्नोल्ड लप्टन का कहना है कि सरकार के लिए यह बहुत बुराई की बात है कि जब देश की आबादी के काफी बड़े हिस्से को काफी खुराक भी न मिले तब गवर्नर-जनरल अपना वक्त लड़ाइयों की तैयारियों में बरबाद करें। जब आम लोगों की ब्याह-शादी, कारज, दहेज वगैरः में इतना कर्ज लेना पड़ता है कि उसे वे जिन्दगी भर नहीं चुका सकते तब मैं सोचता हूँ कि सरकार में कहीं न कहीं कुछ गड़बड़ जरूर है। हर एक शासक का सबसे पहला फर्ज यह होना चाहिये कि वह यह देखे कि लोगों की माली हालत इतनी अच्छी हो सकती है कि कहीं जिससे वे साधारण तौर पर अच्छा खा सकें, अच्छा पहन सकें, अच्छे घरों में रह सकें और ऐसी स्वच्छता के साथ कि जिससे अच्छे स्वास्थ्य का का सुख भोगें। यही राष्ट्रीय भलाई की पहली शर्त्त है।" उनका कहना है कि अगर मैं हिन्दुस्तान का गवर्नर जनरल होता तो इस बात की परवा न करता कि तिब्बत या उत्तर-पश्चिम के पामीरों में क्या हो रहा है? न मैं अमीर काबुल को तङ्ग करता न फारिन की तनिक भी फिक्र करता। मैं तो सबसे पहले यह देखने की कोशिश करता कि सल्तनत बर्त्तानियाँ की तमाम ताकत लगा कर भी मैं दुनियाँ के सामने यह ऐलान कर सकता

हूं कि नहीं कि मैंने हिन्दुस्तान के आम लोगों को इतना अमीर बना दिया है कि दुनियाँ की दूसरी बड़ी कौमों से बखूबी उनका मुकाबिला किया जा सके। लेकिन हिन्दुस्तान में जो गवर्नर जनरल भेजे जाते हैं वे एक ऐसे वर्ग से भेजे जाते हैं जिन्हें यह पता ही नहीं कि मुसीबत कहते किसे हैं? अगर हम अपने यहाँ के मजदूरों में से किसी को गवर्नर जनरल बना कर भेजें तो वह सब से पहले हिन्दुस्तान के कमकरों की माली हालत की जाँच करेगा और फिर इस बात की कोशिश करेगा कि उनकी गरीबी को दूर किया जाय। Happy India p. 25

मौसम के महकमे से भी किसानों को पूरा फायदा नहीं पहुँच पाता। एक गवाह ने शाही कृषि कमीशन के सामने कहा कि यह महकमा किसानों के लिए किसी काम का नहीं। इसके अन्दाज आम तौर पर गलत होते हैं। और इसकी जो कुछ भी दैनिक रिपोर्ट या सालाना अन्दाज होते हैं वे किसानों के पास वक्त पर नहीं पहुँचते।

किसानों की तरक्की के कामों के लिए सरकार हमेशा बजट में पैसा न होने की बात पेश करती है जब कि १६३६ के विश्व-व्यापी महायुद्ध में हम देख चुके हैं कि सरकार के पास अरबों रुपए साल तक खर्च करने की कोई कमी नहीं है। हिन्दुस्तान के मौजूदा वायसराय लार्ड वैवल तक ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि लड़ाई के लिए तो सरकार को पचास-पचास करोड़ रुपए रोज तक खर्च करने में पैसे की कोई दिक्कत नहीं मालूम होती लेकिन जनता की भलाई के कामों के लिए पचास

करोड़ साल भी नहीं दे सकती ! खुद इङ्गलैंड की सरकार जनता की भलाई के कामों के लिए करोड़ों रुपए साल कर्ज लेकर काम चलाती है। डार्लिङ्ग जैसे किसान-समस्या के सरकारी विशेषज्ञ आई० सी० एस० किसानों की भलाई के कार्यों के लिए कर्ज लेने की आवश्यकता और उपयोगिता को प्रतिपादित करते हैं लेकिन चूँकि सरकार किसानों की सरकार नहीं है इसलिए उसके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। अङ्गरेज इंजीनियर आरनोल्ड लप्टन ने यह ठीक ही कहा है कि अगर हिन्दुस्तान के गवर्नर और गवर्नर जनरलों, ब्रिटेन, ब्रिटिश जाति और ब्रिटिश साम्राज्य की इज्जत रखना चाहते हैं तो उन्हें हिन्दुस्तान की गरीबी को दूर करने के काम में जुट जाना चाहिए।

किसानों में अज्ञान का साम्राज्य है। उनमें से लगभग नब्बे फीसदी के लिए काला अक्षर भैंस बराबर है। किसानों का यह अज्ञान उनकी उन्नति के मार्ग में एक सबसे बड़ा रोड़ा है। इसके कारण वे सब प्रकार की धार्मिक और सामाजिक दासताओं के मूढ़ तथा अन्ध विश्वास और कुप्रथाओं के शिकार रहते हैं। इसी के कारण वे अपने फायदे की कानूनों और महकमों से पूरा तो क्या आंशिक लाभ भी नहीं उठा सकते। इसी के कारण वे तरह तरह के कानूनी शोषण के शिकार होते हैं। लेखक को स्वयं यह मालूम है कि सन् १९२६ में जब संयुक्त प्रान्त के नये कानून से किसानों को हीन हयाती मौरूसी का हक़ मिला तब एक राजा साहब ने अपने किसानों से यह कह कर कि

हम तुम्हें यह हक़ दे रहे हैं बीसियों हजार रुपए ठग लिये। लगान की छूट के परचों में भी इसी तरह पटवारियों ने किसानों को खूब लूटा खाया। पढ़े-लिखे न होने की वजह से किसानों के लिए अर्जी वगैरः लिखना तो गैर-मुमकिन है ही वे रसीद और रुक्के तक नहीं पढ़ पाते, पटवारी के कागजातों में अपने इन्दराज नहीं पढ़ पाते। फलस्वरूप हमेशा बोहरों, जमीदारों और पटवारियों से अपने हाथ कटा बैठते हैं, और इन लोगों के नीचे किसानों की गर्दन हमेशा दबी रहती है।

हिन्दुस्तान के नेता लगभग पचास बरस में अनिवार्य और निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा के लिए सरकार पर जोर डालते रहे हैं लेकिन उनकी यह माँग आज तक भी पूरी नहीं हुई है। यानी किसानों के अज्ञान का भी प्रधान कारण किसान-राज का न होना ही है। जापान, रूस वगैरः में वहाँ की सरकार ने बीस-तीस बरस में ही अपने देश से निरक्षरता निशाचरी को मार भगाया है। हिन्दुस्थान की सरकार जिस रफ्तार से साक्षरता बढ़ा रही है उस रफ्तार से तो वह सैकड़ों बरस में दूर हो पायगी। सच बात यह है कि हिन्दुस्तान की सरकार अभी तक किसानों की प्रारम्भिक शिक्षा और उनकी कृषि-सम्बन्धी शिक्षा की सुव्यवस्थित और दोषहीन तथा हितकर योजनाएँ तक नहीं बना पाई है। किसानों की प्रारम्भिक शिक्षा के मामले में उसके शिक्षा-विशेषज्ञों को महात्मा गांधी के नेतृत्व में तैयार की गई वर्धा-बेसिक-शिक्षा-योजना की शरण लेनी पड़ी है।

हिन्दुस्तान की कृषि-सम्बन्धी शिक्षा कितनी सदोष और

बेकार है इसका पता शाही कमीशन के सामने दी गई गवाहियों से भली भाँति चल जाता है।

१८७५ के शाही कमीशन का कहना है कि "पढ़ा-लिखा न होने की वजह से किसान दस्तावेजों को समझना तो दूर, पढ़ भी नहीं सकता, अदालत में अपनी सही सफाई भी अच्छी तरह नहीं दे सकता। इन बातों से सहज ही लोगों का जी उनके ऊपर सैकड़ों तरह की शैतानी करने को ललचाता है।" बौहरे, जमींदार सरकारी अहलकार, चौकीदार, पटवारी, पतरौल, मुखिया; यहाँ तक कि स्कूल के अध्यापक, फकीर, पण्डित, पुजारी, पुरोहित सब किसानों को नोंचते-खाते हैं, इनसे लेकर ब्रिटिश-साम्राज्य और बहुत से राजनैतिक दल तक खुले दिल से बेधड़क उनका शोषण करते हैं। फिर, बौहरों की बेईमानियों और जमींदारों के जुल्मों और ज्यादतियों का तो कहना ही क्या है?

संसार भर में, लगभग सर्वत्र ही जहाँ-जहाँ किसानों का राज नहीं है वहाँ-वहाँ किसानों को इन सब कष्टों का गरीबी, गुलामी, अज्ञान और शोषण का सामना करना पड़ रहा है। यहाँ तक कि विज्ञान भी किसानों के लिए घातक ही सिद्ध हो रहा है। बड़े-बड़े उद्योग धन्धों में नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों से किसानों में गरीबी और बेकारी बढ़ती है, गाँव ऊजड़ होते हैं, किसान भूमि से उन्मूलित होकर तरह-तरह की नारकीय यातनायें सहते हैं। १९३८ की बम्बई औद्योगिक सर्वे कमेटी का कहना है कि हिन्दुस्तान में मिलों के बढ़ने से बेकारी और आर्थिक सङ्कट में वृद्धि तथा फी व्यक्ति की आमदनी में कमी

यानी गरीबी की वृद्धि हुई है। इस प्रकार की बेकारी को Technical बेकारी के नाम से पुकारा जाता है।

किसान इस शोषण से अपनी रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हैं। डार्लिङ्ग साहब का कहना है कि छोटे-छोटे किसान अपने अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकते। अगर वे अपने अधिकारों की रक्षा का कभी प्रयत्न कर बैठते हैं तो उनके मवेशी, मवेशीखानों में बन्द कर दिये जाते हैं, उनकी औरतें तक उड़ाली जातीं हैं और तरह-तरह के झूठे इल्जामों में उन पर मुकद्मे चला दिये जाते हैं। साइमन कमीशन का कहना है कि बीच के बिचौं-दियों किसानों का शोषण करने वालों की तादाद पचास के लगभग है।

इस तरह, किसानों की कष्ट-कथा का कोई पारावार नहीं है। इस अध्याय में उल्लिखित एक-एक महकमे वगैरः के कष्टों को लेकर एक-एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखी जा सकती है और लिखी जानी चाहिये तथा यदि ये कष्ट निकट भविष्य में दूर न हुए तो लिखी भी जायँगीं लेकिन इस अध्याय में उन सबका वर्णन किया जाय तो "बाढ़हि कथा पार नहिं लहहूँ" वाली बात हो जायगी। इसलिए पाठकों को इतने से ही सन्तोष कर के स्थाली पुलाक न्याय से काम लेना चाहिये।

यदि किसान अपनी इस गरीबी और गुलामी से तथा इस अन्याय तथा अत्याचार पूर्ण शोषण से बचने के लिए जिन्दगी से आजिज़ आकर विद्रोह का सङ्गठित प्रयत्न करते हैं तो दानवी

दमन द्वारा उनको कुचल दिया जाता है। विज्ञान के आविष्कारों के फलस्वरूप सरकार के हाथों में जो प्राणघातक शक्ति केन्द्रित हो गई है वह किसानों के दमन में बहुत ही सहायक सिद्ध होती है। संसार भर में जहाँ-जहाँ किसान-राज नहीं है वहाँ वहाँ लग-भगसर्वत्र ही किसानों को दमन-दावानल में जलना और झुलसना पड़ता है।

अमेरिका के किसानों के कष्टों और उनके दमन का बहुत ही सुन्दर तथा साहित्यिक वर्णन स्टाइनवैच (Steanbach ने Grape of wrath (क्रोध के अंगूरा) में किया है। यूरूप में किसानों के दमन का यह हाल है कि ज्यों हीं वहाँ के किसान अपना शक्ति-शाली सङ्गठन करते हैं त्यों ही क्रूरतापूर्वक उनको कुचल दिया जाता है। किसानों की अन्तर्राष्ट्रीय के नेता तथा संस्थापक स्तानबूलिस्के-बल्गेरियन किसान-नेता जान से मार डाला गया। यूरूप में जागरणशील किसानों के नेतृत्व के काम से अधिक खतरनाक काम आजकल कोई काम नहीं है। १९२८ में किसानों के नेता स्टीफन रैडिश गोली से मार डाला गया। दूसरे नेता जो नैकग्रीडैवोक को उसके घर में कत्ल कर दिया गया। क्रोट किसानों के लिए व्याह-शादी में राष्ट्रीय गीत गाने की मनाही है। परन्तु क्रोट किसानों के खून में बहादुरी और शहादत कुछ इस हद तक समायी हुई है कि एक नेता के शहीद होते ही दूसरा नेता उसकी जगह ले लेता है— वे कभी नेतृत्वहीन नहीं हो पाते। पोलैन्ड के आर्वान कुकरोनियाँ के किसान सन् १९२० में

अहिंसात्मक उपायों से अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे थे फलस्वरूप उन पर अकथनीय क्रूरता की जा रही थी। सैकड़ों किसानों के कोड़े लगाये गये। उनकी बहू-बेटियों की बेइज्जती की गई। उनके स्कूल बन्द कर दिये गये। उनकी सहयोग समितियों के भण्डार लूट लिये गये। उनके पुस्तकालय नष्ट कर दिये गये। दस बरस बाद १९३० में भी इस दमन-दावानल का अन्त नहीं हुआ। इस साल के जून से लेकर सितम्बर तक बीस हजार उकरेनियन किसान गिरफ्तार हुए। पोलिश पार्लियामेंट में उकरेनियाँ के जो छब्बीस प्रतिनिधि थे उनमें से सोलह गिरफ्तार कर लिये गये। बहुत से लोग चोटों से मर गये। लूई एडैमिक ने Natives Return नामक पुस्तक में मध्य यूरुप में किसानों के क्रूर दमन का अच्छा दिग्दर्शन कराया है।

सोविएत रूस के किसानों पर जो कुछ बीती, वहाँ लाखों आसूदा किसान-परिवारों को किस तरह बरबाद तथा बे घर-बार किया गया तथा लाखों ही किसान किस तरह उनके पेट का अन्न छीन कर भूखों मार डाले गये यह भी सब को मालूम है।

भारत में किसानों के दमन की कथा किसी से कम काली नहीं है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम अर्धभाग में दक्षिण और बङ्गाल वगैरः में तथा नील के कोठियों में वहाँ के गुलाम किसानों को किस तरह कुचला गया। चम्पारन में किसानों के साथ १९१६ तक क्या होता रहा, १९२० में संयुक्त प्रान्त के एक आन्दोलन और परतावगढ़, फैजाबाद, रायबरेली वगैरः में होने

वाले शुद्ध किसान आन्दोलनों के, बारदोली के किसान-सत्याग्रह के तथा १९३०-३१ में आन्ध्र, गुजरात, संयुक्त प्रान्त के किसान आन्दोलनों के दमन में जो कुछ किया गया उसे कौन नहीं जानता ? लेकिन कड़े से कड़ा दमन भी किसानों की जाग्रति की लहर को कम नहीं कर पाया, इसने किसानों की असन्तोषाग्नि में घी का ही काम किया है ।

सङ्कट-मोचन-योजना

किसानों के इन कष्टों का कभी अन्त होगा? होगा तो कैसे? ये प्रश्न हैं जो प्रत्येक किसान और किसान-सेवक के मनमें रह-रह कर उठते हैं। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर पर किसानों का भविष्य निर्भर है। ये ही प्रश्न किसान-समस्या के मुख्य और मौलिक प्रश्न हैं।

निश्चित है कि किसानों का और उनके कष्टों का कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। किसानों के ये कष्ट ईश्वर-कृत नहीं, मनुष्य-कृत हैं। प्राकृतिक नहीं, अप्राकृतिक हैं। इन कष्टों का एक मात्र कारण वर्तमान सामाजिक अव्यवस्था, किसानों की आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक गुलामी है।

प्राचीन भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब यह सामाजिक अव्यवस्था न थी, जब किसान और जनता जो पर्यायवाची थे और हैं, चौमुखीदासता के चंगुल में नहीं फँसे थे। तब वे सुखी, स्वस्थ, सभ्य और समृद्ध थे।

हिन्दुस्तान में बसने वाले आर्यों की सभ्यता किसानों की सभ्यता थी। आत्मा को ऊपर उठाने वाले वेदों के दिव्य गीत किसानों के ही गीत हैं। उन दिनों किसानों का जीवन स्वर्गीय जीवन था। जो किसान आज हिन्दुस्तान में नारकीय कष्ट भोग रहे हैं उन्हीं के पूर्वज उन दिनों यहाँ स्वर्ग के सुख लूट रहे थे जिन्हें देखकर उनके

देवता भी यह गीत गाते थे कि भारत-भूमि भाग तुम धन्य हो। वेदों की प्रार्थनाएँ किसानों के पशु और कृषि-धन की रक्षा की और किसानों के गृहस्थ जीवन और आध्यात्मिक जीवन को पूर्ण, दिव्य और सुखमय बनाने की प्रार्थनाएँ हैं। ऋग्वेद में ऐसी प्रार्थनाएँ भरी पड़ी हैं। उनके देवताओं में इन्द्र सबसे बड़ा सब देवताओं का राजा है क्योंकि वह पानी बरसाता है। सूर्य-नारायण का स्थान भी बहुत ऊँचा था क्योंकि वे उनकी फसल पकाते थे। किसान के गो-धन तथा गोबर-धन की पूजा तो स्वयं कृष्ण भगवान ने की थी। आज भी किसानों के लड़के पशु चराते हैं। उस कन्हैया का बालपन धेनु चराने में बीता। सुखी-सम्पन्न तथा शान्ति और सन्तोषमय उस किसान-जीवन की परिस्थितियों में ही वे ऋषि-मुनि उत्पन्न हुए थे जिन्होंने परलोक और परा-विद्या, ब्रह्म, जीव और आत्मा के सम्बन्ध में ऐसे ऊँचे से ऊँचे विचार सोचे जिन्हें देख कर संसार भर के पारखी विद्वान आज भी आनन्द और विस्मय से विह्वल हो जाते हैं।

उन दिनों दूध-दही इतना होता था कि यहाँ के किसान दूध-दही की नदियों की क्षीर-सागर की कल्पना करते थे। माखन-मिश्री से उन्हें इतना प्रेम था कि उनके भगवान उसकी चोरी करते थे। उनके शेष, महेश, सुरेश भी जिनके गुण नहीं गा पाते थे उन्हें अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ के लिए नाच नचाती थीं! कृष्ण भगवान किसानों के ही भगवान थे। वे स्वयं गोपाल थे।

जगज्जननी सीता जी की पति-भक्ति, मर्यादा पुरुषोत्तम

रामचन्द्रजी की पितृभक्ति, वीर शिरोमणि लक्ष्मणजी की भ्रातृ-सेवा, आदर्श-भाई भरत का भ्रातृप्रेम तथा इन सबके त्याग और तपोमय जीवन ये सब किसानों के आदर्श हैं। रामायण किसानों का महाकाव्य है। औद्योगिक युग में इन पारिवारिक दिव्य गुणों को कहीं स्थान भी नहीं मिलता। वाल्मीकीय रामायण में बालकाण्ड में लिखा है कि राजा दशरथ के राज में ऐसा कोई न था जो पढ़-लिख न सके। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन से सन्तुष्ट था क्योंकि कोई गरीब न था। इसी ग्रन्थ में ऋषि मतङ्ग ने कृषि की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

महाभारत के बाद भी हिन्दुस्तान के किसान सुखी-सम्पन्न और खुशहाल थे। वे सुख, सन्तोष और सम्मान की जिन्दगी बसर करते थे। चीनी यात्री फाहियान पाँचवीं और ह्वांग्साँग पाँचवीं शताब्दी में भारत आये थे। उन्होंने अपनी यात्रा के वर्णनों में लिखा है कि उन दिनों हिन्दुस्थान में खेती बहुत अच्छी होती थी। आमतौर पर दो और समय समय पर तीन फसलें होती थीं। गाँव स्वयँ पर्याप्त थे, गाँव वालों को उनकी ज़रूरतों की सब चीज़ें गाँव में ही मिल जाती थीं। उनके लिए उन्हें न तो बाहर ही भटकना पड़ता था, न दूसरों का मुँह ही ताकना पड़ता था। इनसे पहले यानी आज से कोई चौबीस सौ बरस पहले मैगस्थनीज़ नामका जो यूनानी यात्री भारतमें आया था उसने भी हिन्दुस्थान के किसानों की खुशहाली का वर्णन किया है।

उन दिनों गाँवों में स्वराज्य, किसानों का राज था। डाक्टर

ऐनी बिसेन्ट का कहना है कि भारत के गाँवों में शताब्दियों तक सहस्रों वर्ष तक स्वराज्य रहा है। सन् ईसवी के सातसौ बरस पहले हिमालय और नर्मदा के बीच में किसानों की सोलह बादशाहतें थीं। पुराणों में भी गाँवों के स्वराज्य का वर्णन मिलता है।

मनु महाराज ने मनुस्मृति में गाँवों को ही स्वराज्य की इकाई माना है। उनका कहना है कि पहले एक गाँव में, फिर सौ गाँवों में फिर एक सहस्र गाँवों में इस तरह राज का प्रबन्ध बाँधना चाहिए। सन् ईसवी के चारसौ बरस पहले कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में गाँवों के स्वराज्य का वर्णन किया है। सातवीं शताब्दी में लिखी गई शुक्रनीति में भी गाँवों के स्वराज्य का उल्लेख मिलता है। बौद्ध-काल में भी भारत में गाँवों का ही स्वराज्य था। बौद्ध-कालीन भारत के इतिहास के लेखक (Rhy Davids) का कहना है कि उस काल का इतिहास गाँवों के स्वराज्य की कथाओं से भरा पड़ा है।

उन दिनों गाँव वाले अपना मुखिया, अपना पटवारी और अपनी पञ्चायत स्वयं चुनते थे। अब ये बातें सपने की हो गई हैं परन्तु उन दिनों में कर्मचारी तथा ये संस्थाएँ गाँव वालों के सामने जवाबदेह थे। गाँव वाले जब चाहते तब इन्हें निकाल सकते थे।

भूमि पर किसानों का ही अधिकार था। वे ही उसके मालिक थे। गाँव-गाँव में तालाब, मन्दिर, पाठशालाएँ और धर्मशालाएँ थीं। उन दिनों के कानून के मुताबिक हर गृहस्थ

किसान को मकान बनाने के लिए जमीन मिलती थी। किसान अपने घर की बाईं ओर तरह-तरह के फूल लगाते थे, आनन्द अनुभव करते थे। किसानों के गृहोद्यानों में फूलों के साथ-साथ तरकारियाँ भी होतीं थीं।

राजाओं के अधिकारों की भी सीमा होती थी। वे मनमानी, घरजानी नहीं कर सकते थे। एक राजा से उसकी प्रेमिका ने प्रजा के किसी व्यक्ति के विरुद्ध कुछ कार्यवाई करने की हठ की, तो राजा ने जवाब दिया कि "अपनी प्रजा पर मुझे कोई अधिकार नहीं। मैं उनका स्वामी नहीं। जो कोई पाप या विद्रोह करे केवल उसीके विरुद्ध कार्यवाही करने का मुझे अधिकार है।" यह बात बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रानल्डशे ने अपनी (India-a Birds eye view) नाम की पुस्तक में उद्धृत की है।

उन दिनों हर गाँव में काफ़ी चरागाह थे। मनुस्मृति में चरागाह छोड़ने का विधान है। गाँव के सब किसानों के जानवर इन चरागाहों में चरते थे। क़रीब-क़रीब सब गाँवों में जंगल होते थे। इन जंगलों से हरएक किसान मकान बनाने वग़ैरः के लिये लकड़ी ले सकता था और खाद के लिये पत्ते बटोरता था। नदी, पोखर, तालाब सब की सम्पत्ति माने जाते थे। उन दिनों स्त्रियाँ भी पञ्चायत की मेम्बर होती थीं।

जो काम सबकी भलाई के होते थे उनको गाँव वाले मिल कर खुशी बखुशी मुफ्त में कर देते थे। कौटिल्यने अपने अर्थ-शास्त्र में इसका उल्लेख किया है। प्रोफेसर री डैविड्स ने अपने

'बौद्धकालीन भारत' नामक इतिहास ग्रन्थ में लिखा है कि बौद्धों के ज़माने में गाँव वाले मिलकर बड़े चाव और पूर्ण जिम्मेदारी के साथ मुहल्ले और धर्मशालायें बनाते थे, सड़कें ठीक करते थे और पार्क लगाते थे। स्त्रियाँ भी गर्व के साथ इन कामों में योग देती थीं।

पञ्चायतें न्याय करती थीं। उनके न्याय में न तो खर्च ही करना पड़ता था और न अन्याय ही होता था। उनमें ग़रीब से ग़रीब के साथ भी न्याय होता था। लोग झूठी गवाही नहीं दे सकते थे क्योंकि उन्हें डर रहता था कि गाँव वालों से सचाई नहीं छिप सकेगी, झूठ पकड़ी जायेगी और हमारी बड़ी ज़िल्लत होगी। मिस्टर जानमैथाई (Mr. Jehn Mathai) ने अपनी "Village Government in British India" नामक पुस्तक में लिखा कि "इन पञ्चायतों में दोनों फ़रीक़ों के लिये यह लाज़िमी होता था कि वे सच-सच बयान करें। छोटी सी जमात में जहाँ लोग रात दिन एक ही जगह रहते हों, यह मुमकिन नहीं कि कोई भी शख़्स जो आराम से रहकर अपनी ज़िन्दगी गुज़ारना चाहता है वह अपने गाँव वालों के सामने झूठ बोले। मिस्टर (A. D. Campwell) ए. डी. कैम्पवैल आई. सी. एस. का कहना है कि अगर पंचायतों का फ़ैसला सरकार के माफ़िक़ होता था, तो भी फ़रीक़ उसे खुशी से मान लेते थे। मि. स्लीमेन का कहना है कि "मेरा विश्वास है कि दुनियाँ भर में और किसी से इतनी आसानी से सच सच नहीं कहाया जा सकता, जितनी आसानी ने हिन्दुस्तानियों से पञ्चायत के सामने। क्यों कि

पञ्चायतों में उन्हें अपने रिश्तेदारों, बड़े बूढ़ों और पड़ोसियों के सामने बयान देना पड़ता है। गांव में रहकर सुख पूर्वक जीवन बिताने के लिये यह निहायत ज़रूरी है कि गांववालों की नज़रों में न गिरा जावे। इस डर से पञ्चायत में सबको सच बोलना पड़ता था।

मुसलमानों के हमलों से जब देश में भारी उथल पुथल हुई तब भी गांवका स्वराज्य नष्ट नहीं हो पाया। सन् १६०७ के विकेन्द्रीकरण डी. सेन्ट्रलाइजेशन कमीशन का कहना है कि "पहले गांवों को बहुत कुछ स्वतंत्रता मिली हुई थी। हज़ारों बरस हिन्दुस्तान के गांवों में स्वराज्य यानी किसानों का राज्य था। हमले होते थे, कायदे बदलते थे, जमाना रंग पलटता था, लेकिन गांव ज्यों के त्यों कार्यशील बने रहते थे।" सन् १८३० में सर चार्ल्स मैडकाफ़ ने कहा था कि, "गाँव की जमायतें छोटे-छोटे किसान राज्य हैं। जब और कोई भी चीज़ नहीं टिक पाती तब भी यह किसान-राज्य अचल रहते हैं। एक राजवंश के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा इस तरह सैकड़ों राजवंश बर्बाद हुये। क्रान्तियों के बाद क्रान्तियाँ होती हैं। लेकिन गाँव अचल हैं।" सर हेनरीमैन के कथनानुसार गाँव के स्वराज्य में बारह अफ़सर रहते थे। इन्हें फसल में से कुछ हिस्सा दे दिया जाता था, कुछ को नक़द तनख्वाह भी दी जाती थी और कुछ को मुआफी। इन अफसरों के मरने पर इनके वारिस इनकी जगह पर काम करते थे, लेकिन गाँव के नौकर की तरह, मालिक की तरह नहीं, क्योंकि गाँव वालों को उन्हें निकाल देने और बर्खास्त

कर देने का अधिकार रहता था। मुखिया ही गाँव के खर्च-देहात खर्च के लिये गाँव वालों से फण्ड उगाह लेता था। मुखिया ही गाँव का मजिस्ट्रेट और गाँव की पुलिस का सुपरिन्टेण्डेण्ट होता था। गाँव पर मालगुज़ारी भी गाँव वाले ही लगाते थे। गाँव की पुलिस का इन्तज़ाम भी गाँव वालों के हाथ में होता था। पञ्चायत न्याय करती थी और गाँव की भलाई के कामों के लिये टैक्स लगाती थी। यद्यपि गाँव केन्द्रीय सरकार के अधीन होते थे लेकिन उन्हें गाँव के भीतर पूर्ण स्वराज्य मिला हुआ था। सर हेनरी मैन ने यह बातें अपनी "Village Communities in the East and West" नामक पुस्तक में लिखी हैं।

सर जदुनाथ सरकार का कहना है कि मुगल बादशाहों ने गाँवों के जीवन में कोई दस्तन्दाज़ी नहीं की। हरएक गाँव, पुराने ढंग पर अपना सुख, शान्ति और सम्मानमय जीवन व्यतीत करता रहा। दूसरे विद्वान इतिहासकार प्रयाग विश्व विद्यालय के इतिहास विभाग के एक आचार्य डाक्टर बेनीप्रसाद का भी यही कहना है कि मुग़ल बादशाह गाँवों के स्वराज-किसान-राज की हमेशी रिवाज़ की इज्जत करते थे और यह इज्ज़त अठारहवीं सदी तक क़ायम रही। मुग़ल बादशाह शेरशाह ने मालगुजारी के सिलसिले में बहुत से सुधार किए। उसके समय में सूखा से और किसी कारण फसल को नुकसान होजाता तो वह किसानों को फौरन तकावी देता था। वह अपने किसानों को सिपाहियों अथवा अमला अहलकारों द्वारा लूटे जाने और मुकदमेबाज़ी

से बचाता था। उसका कहना था कि "अगर कोई राजा अपने ग़रीब किसानों को बदमाशों से नहीं बचा सकता तो उसका उन से मालगुज़ारी वसूल करना सरासर जुल्म है।"

आईने अकबरी में लिखा है कि "अमलगुज़ार (कलक्टर) को किसानों का दोस्त होना चाहिये। उसे ऐसी जगह रहना चाहिये जहाँ हरएक शख़्स आसानी से उसके पास पहुंच सके।" उसे चाहिये कि वह राज का इन्तिज़ाम इस तरह से करे कि जिससे किसी को शिकायत करने का मौक़ा न मिले। उसे क़र्ज़ देकर ग़रीब किसानों की मदद करनी चाहिये और उस क़र्ज़ को धीरज के साथ वसूल करना चाहिये। खेतों की नाप-तौल में हमेशा इंसाफ़ और दूरंदेशी से काम लेना चाहिये। हर साल किसानों की ताक़त और उनकी सहूलियतों को बनाए रहे। अपने वादे पर क़ायम रहे और मुकर्रर की हुई रक़म से एक पाई भी ज्यादा न ले। बन्दोबस्त करने के वक्त सिर्फ देहात के बड़े-बड़े आदमियों से ही मिलकर वह न करे क्योंकि ऐसा करने से दुष्टों तथा अत्याचारियों को अनुचित अधिकार मिल जाता है और काम में बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। उसे चाहिये कि वह हरएक किसान से जान-पहचान करके हर किसान को उसके काम के परचे दे और अपने काम के परचे उनसे ले। लगान की तहसील भलमनसाहत के साथ करे और कुसमय वसूलयाबी के लिए हाथ न बढ़ावे।" अकबर किसानों के साथ सच्ची हमदर्दी रखता था। औरङ्गजेब भी किसानों को तकावी देता था। उसके राज में सरकार खेती के काम के लिए कुएँ बनाती थी। औरङ्गजेब

की ख्वाहिश और उसका मक़सद यही था कि खेती की तरक्की हो और किसानों की भलाई।

शाइस्ताखाँ और फरीदखाँ के राज्य में भी किसान खुशहाल थे। इन बातों से स्पष्ट है कि मुल्क में मुसलमानी राज में भी किसानों के ग्राम्य-स्वराज में ऐसा फर्क नहीं पड़ा।

उन दिनों खेती के पूरक और सहायक धन्धों की भी कमी नहीं थी गाँवों के बहुत से लोग इन रुज़गारों में लगे रहते थे। इन धन्धों से किसानों को खासी अच्छी आमदनी होती थी जिसके कारण फसल खराब होने पर, अकाल पड़ने पर और जोतें छोटी होने पर भी लोगों के पास खाने को पैसा रहता था, वे खुशहाल रहते थे। उन दिनों पैसे का अकाल नहीं था।

घरों में किसानों की औरतें कपास ओट लेती थीं और सूत कात कर कुछ पैसे कमा लेती थीं। घर के कते सूत का कपड़ा भी गाँव में ही जुलाहे से बुनवा लिया जाता था। अकेले इस रुजगार से बहुतों की रोज़ी चलती थी। धुने, जुलाहे, रंगरेज़ वगैरः सिर्फ़ इसी धन्धे के बल पर अपना तथा अपने परिवार का पेट पालते थे। हर एक किसान परिवार भी इस रुज़गार की वज़ह से घर बैठे चार पैसे रोज़ कमा लेता था।

उन दिनों किसानों की कामधेनु रूपी यह रोजी इतनी चटक रही थी कि हिन्दुस्तान का बना कपड़ा करीब-करीब दुनियाँ भर में जाता था एशिया का काम तो हिन्दुस्तान के सूती कपड़ों के बिना चल ही नहीं सकता था। मोरलैण्ड ने अपनी From Akbar to Aurangazab नामक पुस्तक में लिखा है कि सिर्फ

दक्षिण एशिया के मुल्कों से ही हिन्दुस्तान में कपड़ों की इतनी माँग आती थी कि गुजरात और ईस्ट कोस्ट के जुलाहों को उस माँग की पूर्ति का अवकाश ही नहीं मिलता था। सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दुस्तान के व्यापार की यह हालत थी कि सर थामसरो के शब्दों में, 'यूरुप की खून पसीने की कमाई से एशिया मालामाल हो रहा था।'

छींटें हिन्दुस्तान में करीब-करीब सब जगह बनाई जाती थीं और बहुत बड़ी मिक़दार में दूसरे देशों में भेजी जातीं थी। हिन्दुस्तान की मलमल मिश्र फारिस और अरब में भी जाती थीं। पहनने के कपड़ों और कीमती कपड़ों का कुल व्यापार देश के लिए बड़े महत्व का था। पुर्त्तगीज़ अपने जहाजों में हिन्दुस्तान का कपड़ा ले जाते थे और अफरीका तथा अमेरिका में भेजते थे।

सन् १६८३ में ईस्टइण्डिया कम्पनी के डिप्टी गवर्नर ने इङ्ग-लेंड के बादशाह पहले जेम्स को रिपोर्ट की कि "हिन्दुस्तान की बनी छींटें बड़े काम की और बढ़िया होती हैं और इङ्गलैण्ड में खूब बिकती हैं।" उन दिनों अंग्रेज कारीगर हिन्दुस्तान के सूत से बहुत काम लेते थे।

कपड़े के बाद नील का व्यापार था जिसमें करोड़ों की रोज़ी चलती थी। Imperial Gazette of India मेंलिखा हुआ है कि बीसवीं सदी की शुरूआत तक नील की खेती और उसके रोजगार से लाखों की रोज़ी चलती थी।

डाक्टर ऐनीबिसेन्ट का कहना है कि सन् १८५० से पहले हिन्दुस्तान कभी भी गरीब नहीं था। सन् १८१३ में ब्रिटिश हाऊस आफकामन्स की एक कमेटी के सामने सर बाइस उनरो ने कहा था कि 'अगर खेती का अच्छा तरीका, तरह-तरह की चीजें बनाने में आसानी, हुशियारी, सुविधा और विलासिता की चीजें पैदा करने की लियाक़त, लिखना-पढ़ना और हिसाब सिखाने के लिए हर गाँव में मदरसों का होना अतिथि सत्कार की आम रिवाज, एक दूसरे की मदद करना और इन सब से ज्यादा स्त्रियों के साथ आदर्श और विश्वास का व्यवहार सभ्यता के चिन्हों में से है तो हिन्दू यूरुप की किसी भी क़ौम से सभ्यता में पीछे नहीं है। और अगर सभ्यता का व्यापार होने लगे, वह व्यापार की वस्तु हो जाय तो मुझे विश्वास है कि इङ्गलैंड की सभ्यता के बदले में हिन्दुस्तान की सभ्यता लेने में इङ्गलैंड को फ़ायदा रहेगा।"

इस प्रकार किसानों का अतीत तो सुख-समृद्धि और गौरव-पूर्ण था ही, उनका भविष्य भी सर्वथा उज्ज्वल और अपरिहार्य है। यह युग जन-जाग्रति का युग है। सामूहिक मनोविज्ञान के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् लेखक ने अपनी The Crowd नामक पुस्तक में प्रतिपादित किया है कि वर्त्तमान युग जन-समूह का युग है—यह ज़माना जमात की करामात का ज़माना है।

समय की गति, संसार-प्रगति पुकार-पुकार कर यह कह रही है कि यह युग किसानों का युग है—यह ज़माना किसानों का ज़माना है।

यद्यपि किसान-आन्दोलन की ओर लोगों का उतना ध्यान नहीं गया जितना मज़दूर-आन्दोलन की ओर (,) मज़दूरों की हलचलों के शोर-गुल में किसानों की क्रान्तियों की ध्वनि लोगों के कानों में नहीं पड़ी, फिर भी यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि यूरोपीय महायुद्ध के बाद लगभग सभी देशों में किसानों ने अपनी शक्ति और जाग्रति का पूरा परिचय दिया है।

पाश्चात्य देशों के सम्बन्ध में, 'मैसाचूसैट्स अमेरिका के कृषि कालेज के प्रेसीडेन्ट मिस्टर कील्योंबटरफील्ड का कहना है कि, "यह निश्चित है कि पिछली कई शताब्दियों में किसान ज़्यादातर देशों में दूसरों के दबैल रहे हैं। जो ज़मीन वे जोतते थे वह भी उनकी नहीं रही थी। संसार के कई विशाल देशों में कई युगों तक कि ान वास्तव में गुलाम थे। कुछ देशों में तो अब भी वे भूमि के साथ बँधे हुए हैं। यहाँ तक कि इन देशों में यदि कोई ज़मीदार अपनी ज़मीन बेच देता है तो किसान भी नये मालिकों के हाथों बिक जाते हैं। वे ज़मीन छोड़ कर नहीं जा सकते। अगर कोई देश निरक्षरता, अज्ञान और मूढ़ विश्वासों के कारण अन्धकारमय है तो उस देश का सबसे अधिक अन्धकारमय भाग गाँवों वाला भाग होगा। ज़मीन जोतने वाले अपनी बुरी हालत में गुलाम होकर रहते हैं और अच्छी हालत में कुछ चमकते अपवादों को छोड़ कर विरले ही मुल्क ऐसे होंगे जिनकी राज-परिषदों में किसान उन लोगों के साथ बैठे हों जो पब्लिक के भाग्य का फैसला करती हैं। ऐसे देश भी बहुत कम ही थे जिनके राज-दरबार में उन मामलों में भी किसानों की

बात सुनी जाती है जिनका किसानों से सीधा सम्बन्ध है! लेकिन पिछले पचास सालों में किसानों के प्रति नया वर्त्ताव होने लगा है। उनके प्रति लोगों का रुख बढ़ता है। राज-काज में भी किसानों ने कुछ शक्ति प्राप्त की है। फ्रांस, इटली, हौलैण्ड, बेल्जियम और स्विटजरलैण्ड में किसानों ने कमाल की उन्नति की है। जब तक किसान जगे नहीं थे तब तक उन्हें कोई नहीं पूछता था यहाँ तक कि अमेरिका के पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में किसानों की चर्चा तक नहीं होती थी।

यूरुपीय महाद्वीप में किसानों की जाग्रति, उनकी क्रान्तियों तथा उनकी विजयों की चर्चा कष्ट-कथा में प्रकारान्तर से आ चुकी हैं।

आयर्लैण्ड में सन् १८८८ से लेकर १९०९ तक जो कानून बने उन सब में यह सिद्धान्त माना गया कि बड़े बड़े जमीदारों से ज़मीन खरीद कर छोटे छोटे किसानों को दिला देनी चाहिए। इंग्लैण्ड में भी १८९२ से छोटी छोटी जोतों का कानून पास हो गया है। अब वहाँ काउण्टी कौंसिलों (डिस्ट्रिक्टबोर्डों) को कानूनन यह हक़ है कि वे किसी भी बड़े जमीदार की जमीन छीनकर एक एकड़ से लेकर पचास एकड़ तक छोटे छोटे किसानों को देदें।

मैक्सिको के किसानों में सन् ३१-३२ में जपाटा आन्दोलन का जोर था। जपाटा वहाँ के किसानों के नेता का नाम था। उसकी जन्पभूमि वाली मैक्सिको की रियासत में सन् १९३२ तक तीनसौ सैंतोस ज़मीदारों की जमीदारियाँ छीन कर एक चौथाई

किसान-परिवारों में बाँटी जा चुकी थीं। कनाडा में किसान-ऐक्य सङ्घ (Farmers' Unity League) था जो किसानों के कष्ट-नाशक कानून बनाने के लिए कोशिश कर रहा था। १६३१ में इस आन्दोलन के सिलसिले में सातसौ किसान कार्यकर्त्ता गिरफ्तार हुए इनमें से १५५ को ११६ साल की सजाएँ मिलीं। बहुतों को देश-निकाला हुआ। किसानों की सभाएँ भंग की गईं, उनके पत्र तथा उनकी पुस्तकें जब्त कर ली गईं!

चीन का सफल किसान- आन्दोलन संसार भर के किसानों के लिये नमूना है। वहाँ के कम्यूनिस्ट नेताओं ने किसानों की शक्ति और उनकी चित्तवृत्ति को ध्यान में रख कर अपना कार्यक्रम मार्क्सवादी आदर्श भूमि के राष्ट्रीकरण के विरुद्ध जो जोते सो जमींदार के वास्तविक सिद्धान्त पर छोटे-छोटे किसानों की चित्तवृत्ति और उनके स्वार्थों के अनुकूल सिद्धान्त पर बनाया। फलतः वहाँ कई सूबों में किसानों का पञ्चायती राज कायम हो गया। किसानों की खासी अच्छी सेना बन गई। और इस आन्दोलन के कम्यूनिस्ट नेताओं का दमन, किसानों की सहायता के कारण, चाङ्काईशेक उनमें निरन्तर दस बरस तक १६२७ से १६३७ तक युद्ध करके भी नहीं कर पाया।

चीन का किसान-आन्दोलन सन् १६२४ में शुरू हुआ था। कुछ ही महीनों में उसे आशातीत सफलता मिली। अक्टूबर १६२६ में चीन की राष्ट्रीय-पार्टी क्यूमिन्टैंङ्ग को उसके किसान-विभाग ने रिपोर्ट की कि "कई सूबों में किसान-सभा के लाखों मेम्बर बन चुके हैं। १६२७ के मार्च में अकेले हुनान प्रान्त में

तीन करोड़ किसान, किसान-सभाओं के मेम्बर हो गये।" उसी साल मई में किसानों ने बड़े-बड़े जमींदारों की जमींदारियाँ छीनकर आपस में बाँट लीं। किसान सेना की टुकड़ियों के छापों ने सन् १९३२ में जापानी सेना को इतना परेशान कर दिया था कि वे आगे न बढ़ सके।

हिन्दुस्तान के किसान भी इस लहर से बचे नहीं हैं। पञ्जाब के किसानों की बाबत माल्कमलयाल डार्लिङ्ग का कहना है कि "अब किसानों की आँखें धीरे-धीरे खुल रही हैं। वे अपने चारों तरफ़ देखने लगे हैं। उन्हें अब दुनियाँ दूसरी ही दिखाई देने लगी है। अब वे यह समझने लगे हैं कि उनकी गरीबी विधिना के अंकुर नहीं हैं जो मिटाए न जा सकें। उन्होंने जान लिया है कि दुनियाँ में हेर-फेर किया जा सकता है। अपनी हालत सुधारी जा सकती है। किसानों की जाग्रति के चिन्ह इतने स्पष्ट हैं कि इनके बारे में किसी प्रकार की ग़लती की गुञ्जायश ही नहीं है। प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के बाद किसानों में एक नए भाव का उदय हुआ है। इस बात के अचूक प्रमाण हैं कि किसान अपनी नींद से जग रहे हैं।"

हिन्दुस्तान की आज़ादी का आन्दोलन वास्तव में किसानों का ही आन्दोलन है। हिन्दुस्तान का पूर्ण स्वराज्य-संग्राम किसान राज-संग्राम है। नौकरशाही से महात्मा गांधी की पहली मुठभेड़ किसानों के सवाल को लेकर ही हुई। चम्पारन का संघर्ष निलहे प्लान्टरों के अत्याचारों से वहाँ के किसानों को बचाने के लिए ही हुआ था। क्वेटा का संघर्ष भी अकालपीड़ित किसानों को

कष्टसे बचाने का सफल प्रयत्न था। विश्व-विदित बारदोली संग्राम सर्वथा किसान-संग्राम था।

संयुक्तप्रान्त में सन् १९२०-२१ में जो महान किसान आन्दोलन हुए थे उनकी चर्चा की जा चुकी है। सीतापुर, हरदोई वग़ैरः के एका-आन्दोलन का नेता भी छेदा पासी—मामूली किसान था। यह कौन नहीं जानता कि प्रान्त के इन स्वतः प्रेरित और स्वतः संचालित किसान आन्दोलनों को यदि उनका नेतृत्व न मिल जाता तो उन्हें जो थोड़ी सी सफलता मिली उसमें कहीं अधिक सफलता उससे कम त्याग और हानि से मिल जाती।

हिन्दुस्तान के किसान जग गये हैं। उनके जगने के साथ-साथ उनके भाग्य भी जग गये हैं। देश की सब से बड़ी तथा शक्तिशाली राष्ट्रीय संस्था काँग्रेस ने किसानों के काम को अपना काम बना लिया है। महात्मा गांधी ने सन् १९३१ में संयुक्तप्रान्त के किसानों और जमींदारों के लिए जो घोषणा निकाली थी उस में उन्होंने किसानों से कहा था कि "तुम्हीं काँग्रेस हो" और कौन नहीं जानता कि हिन्दुस्थान में किसान कांग्रेस के हैं और कांग्रेस किसानों की।

सन् १९३२ में काँग्रेस और सरकार में जो घमासान लड़ाई हुई थी वह किसानों की लड़ाई थी। किसानों के लगान की मुआफी के सवाल पर ही वह लड़ाई लड़ी गई। कांग्रेस का कहना था कि नाज का भाव गिर जाने से किसानों की पैदावार की कीमत आधी से भी कम रह गई है। साथ ही फसल को

और भी नुकसान पहुंचा है इसलिए किसानों का लगान हर हालत में आधे से ज्यादा मुआफ़ होना चाहिए, बकाया लगान की वजह से होने वाली किसानों की बेदखलियाँ ऐसी हैं कि विपत्ति के समय हट जानी चाहिए। जिनको बेदखल कर दिया गया है उनको उनके खेतों पर दखल वापस देना चाहिए। सरकार काँग्रेस से कहती थी कि तुम किसानों की हिमायत मत करो हम जो कुछ कर रहे हैं उससे ज्यादा कुछ नहीं करेंगे। इसी पर काँग्रेस ने सबसे ज्यादा मुसीबत सही, जिलों के किसानों से कहा कि लगान रोक लो। सरकार ने इसका जवाब आर्डीनेंसों से दिया और कांग्रेस से उसकी टक्कर होगई।

हिन्दुस्थान की सरकार भी यह समझ गई है कि किसान जग गये हैं। क्योंकि सरकार यह जानती थी कि किसान जग गये हैं इसलिये उसने संयुक्तप्रान्त में १९२१ में अवध-कानून लगान और १९२६ में आगरा कानून लगान बनाया और इन कानूनों पर बहस करते हुए तत्कालीन लैजिस्लेटिव कौंसिल में खुल्लमखुल्ला यह स्वीकार किया कि "अगर जगे हुए किसानों को कुछ भी अधिकार न दिए जायँगे तो अच्छा न होगा।" इसी बात को स्वीकार करके सरकार ने सन् १९२० के बाद किसानों को जितनी मुआफी लगान दी उतनी पहले कभी नहीं दी थी।

सरकार यह भी जानती है कि किसानों में इतनी ताक़त है कि अगर वे उसका ठीक इस्तैमाल करने लगें तो फिर कोई भी उनका मुकाबिला नहीं कर सकता! उस समय संयुक्तप्रान्त के गवर्नर सर विलियम मैरिस ने सन् १९२४ में लखनऊ के एक

दरबार में कहा था कि किसानों ने अपनी ताक़त को पहचाना नहीं है। जिस दिन वे अपनी ताक़त को पहचान जायँगे उस दिन सरकार की बागडोर उनके हाथ में आ जायगी।

किसानों की यह प्रगति अब रुक नहीं सकती। वह उस वक्त तक हरगिज नहीं ठहर सकती जब तक कि अपने उद्देश को न प्राप्त कर ले। जो प्रचण्ड प्राकृतिक शक्तियाँ किसानों की इस प्रगति को प्रेरित कर रही हैं उनकी गति का अवरोध करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है।

जमीन बढ़ नहीं सकती। उसके बढ़ने की कोई सम्भावना भी नहीं है। परन्तु आबादी लगातार बढ़ती जा रही है। मर्दुम शुमारियों के आँकड़ों से यह स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि हिन्दुस्तान में अभी किसानों की आबादी शहरों की आबादी के मुकाबिले में बढ़ रही है। स्पष्ट है कि आबादी बढ़ने पर जोतें और भी छोटी हो जायँगी। जब मौजूदा जोतों से किसानों का गुजारा नहीं होता तब उनके और भी छोटी हो जाने पर हालत और भी बुरी हो जायगी। जोतें छोटी होने की वजह से जमीन की पैदावार भी घटती जायगी। साथ ही रूस, अमेरिका, अर्जेन्टानियाँ, आस्ट्रेलिया वगैरः दूसरे देशों में खेतों की पैदावार बढ़ने की वजह से नाज का भाव सस्ता होता जायगा। फलतः किसानों का आन्दोलन दिन प्रति दिन प्रचण्ड से प्रचण्डतर और प्रचण्डतम होता जायगा।

अब तक के विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि किसानों का भविष्य किसान-राज के ऊपर निर्भर है। संसार के दूसरे देशों

की तरह भारत में भी किसानों की दुर्दशा का सब से बड़ा कारण यही है कि देश के शासन में किसानों की कोई आवाज़ नहीं। राज-काज में उनकी कोई पूछ नहीं। यह देश किसानों का देश है। सहज ही लोकतन्त्र यह चाहता है कि इस देश की सरकार किसानों की सरकार हो।

देश के वर्तमान शासक और उनके साथी यह नहीं चाहते कि किसान देश के शासन की बागडोर अपने हाथ में लें। वे कहते हैं कि किसानों का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं और इसलिए यह चाहते हैं कि वे राजनीति से अलग ही रहें। मिस्टर माल्कम ल्याल डार्लिङ्ग का कहना है कि "एक बात की किसान तनिक भी परवाह नहीं करते और वह है राजनीति"। मिस्टर काल्वर्ट ने भी यही राय दी है कि राजनीति का खेती से कोई सम्बन्ध नहीं।

परन्तु सत्य इसके बिल्कुल विपरीत है। अगर किसान ज़िंदा रहना चाहते हैं तो उन्हें राजनीति में हिस्सा लेना पड़ेगा। संसार भर का इतिहास पुकार रहा है कि बिना अपनी सरकार के किसानों के हितों की रक्षा और वृद्धि कदापि नहीं हो सकती। यों तो 'राजा कालस्य कारणम्' और 'यथा राजा तथा प्रजा' के नीति-वाक्य प्रसिद्ध ही हैं परन्तु किसानों के स्थायी उद्धार का काम तो इतना विशाल है कि वह किसानों की सरकार के बिना न तो कभी पूरा हुआ है और न हो ही सकता है। दावानल घड़ों के पानी से नहीं बुझाई जा सकती। किसानों की स्थायी भलाई भी उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि शासन

की बागडोर किसानों के हाथ में न आ जाय। किसान दुःखों की जिस दावानल में दग्ध हो रहे हैं उसको किसानों की अपनी सरकार—राष्ट्रीय सरकार ही बुझा सकती है।

किसान राजनीति से अलग और उदासीन रह कैसे सकते हैं? क्या वे जीवन से अलग रह सकते हैं क्योंकि जीवन ही राजनीति है? क्या वे अपनी तथा अपने बाल-बच्चों की जिन्दगी और बहतरी के सवालों से अलग रह सकते हैं? किसानों के जीवन में पग पग पर राजनीति का असर पड़ता है। यह दिखाया जा चुका है कि रेल और जहाजों के भाड़ों से किसानों की रोजी और रोजगारों को कितना नफा-नुकसान पहुँचता तथा पहुंच सकता है। रुपये की कीमत में घटा-बढ़ी होने से भी किसानों को बहुत नफा-नुकसान पहुँचता है। जब रुपये की कीमत एक शिलिंग छः पैंस की गई थी तब सर पुरुषोत्तम ठाकुरदास ने कहा था कि "रुपये की दर बढ़ा देने से देश के अस्सी फीसदी लोगों को जो खेती पर गुजारा करते हैं बहुत नुक्सान होगा।"

देश से बाहर जाने वाले और बाहर से देश में आने वाले माल पर सरकार जो चुङ्गी लगाती है उससे भी किसानों की रोजी और उनके रोजगार पर सीधा तथा भारी असर पड़ता है। इन और ऐसी बातों के अलावा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सरकार के कार्यों का किसानों पर जो बुरा और भला असर पड़ता है, वह अलग है। ऐसी हालत में यह समझना कि किसान राजनीति से अलग रह सकते हैं, यह समझने के बराबर मूर्खता

है कि मनुष्य हवा से अलग रह सकता है ? किसान क्या संसार का कोई भी मनुष्य जो समाज में रहना चाहता है राजनीति से अलग नहीं रह सकता। जब तक मनुष्य समाज में रहता है तब तक यदि वह मूर्खतावश यह भी समझ ले कि मैंने राजनीति से सब सम्बन्ध छोड़ दिया तो भी राजनीति उससे अपना सम्बन्ध नहीं छोड़ेगी। हम चाहें या न चाहें, हम सभी को राजनीति में भाग लेना पड़ता है। प्रत्येक घण्टे हमें राजनैतिक ध्यान देने पड़ते हैं, फिर चाहे हम प्रसिद्ध अज्ञानी की तरह हर समय गद्य में बोलते हुए भी यह न जानते हों कि गद्य क्या है ? हम जानें या न जाने प्रति दिन राजनतिक रुख अख्तयार करने पड़ते हैं। अपने सर्वोच्च अर्थ में राजनीति ही जीवन है और जीवन राजनीति। प्रत्येक मनुष्य को कर्त्ता या द्रष्टा की हैसियत से इस जीवन-संघर्ष नाटक में भाग लेना पड़ता है। तीसरा कोई चारा ही नहीं है। आज-कल हमारा समस्त जीवन राजनीति के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

हमने यह देख लिया है कि प्राचीन परम्परा और संसार की भावी गति-विधि दोनों ही किसानों के पक्ष में हैं—किसान अपने कष्टों के महासागर को निस्सन्देह पार कर सकते हैं। हम यह भी सहज ही देख सकते हैं कि किसानों के सङ्कट-मोचन की समस्या इतनी विकट और इतनी विशाल है कि उसके अङ्गोपाङ्गों की संख्या का ख्याल करके ही सर चकरा जाता है। यह भी स्पष्ट है कि वह साधारण, अधूरे और अव्यवस्थित प्रयत्नों से हल नहीं हो सकती। उसके लिए सुव्यवस्थित तथा सुसंचारित योजना की तथा बड़े से बड़े पैमाने पर सब की समस्त सम्मिलित शक्ति से

इस योजना को कार्यान्वित करना अनिवार्यतः आवश्यक है। इतने महान कार्य को जाग्रत जन-बल के बूते ही किया जा सकता है। जन-शक्ति को जाग्रत और सङ्गठित करने का काम या तो राष्ट्रीय महसभा जैसी विशाल संगठन-सम्पन्न संस्था ही कर सकती है या राष्ट्रीय-सरकार अथवा किसानों की सरकार। काँग्रेसी मंत्रि-मण्डल किसानों के संकट-मोचन की समस्या को जन-शक्ति को जाग्रत और संगठित करके ही हल कर सकते हैं। और जन-शक्ति को जाग्रत तथा सङ्गठित करने के लिए यह आवश्यक है कि इस महान कार्य को वर्त्तमान अधिकारियों और अहलकारों की बदबू से दूर रक्खा जाय क्योंकि जब तक उसमें इनकी तनिक भी बू आवेगी तब तक उसे किसान जनता कदापि अपना नहीं समझेगी और जब तक जनता इस काम को स्वयं अपना नहीं समझेगी तब तक वह कभी पूरा नहीं हो सकता। संयुक्तप्रान्त के ग्राम-सुधार-विभाग के मन्त्री महोदय को अधिकारियों की अप्रसन्नता का जितना ध्यान था उसके बराबर भी ध्यान उन्हें इस समस्या के इन मूल-मन्त्रों की ओर होता तो वे लेखक की ग्राम-सुधार-योजना को, इस प्रकार निष्प्राण न कर देते जैसाकि उन्होंने अनजाने किया।

जो कोई भी सचाई और गंभीरता के साथ किसानों के संकट-मोचन की समस्या को हल करना चाहते हैं उन्हें यह भी समझ लेना होगा कि इस समस्या के अलग-अलग टुकड़े नहीं किये जा सकते। समस्त समस्या को एक ऐसा विराट शरीर मान कर चलना होगा जिसके प्रत्येक अवयव का एक दूसरे से ऐन्द्रिक

सम्बन्ध है। किसानों के संकट-मोचन की समस्या केवल खेती की उन्नति की समस्या नहीं, न वह केवल किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारने की समस्या है, वास्तव में वह किसानों की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक समस्या, उनकी जीवनोन्नति और समस्त जीवन के विकास की समस्या, उन्हें पशुवत् जीवन से उठाकर अपने असली दिव्य जीवन की ओर ले जाने की समस्या, शाही कमीशन के शब्दों में किसानों के जीवन का दृष्टिकोण बदलने की समस्या, ब्राउन साहब के शब्दों में ग्रामोत्थान की समस्या न होकर किसानोत्थान की समस्या है। हमारे देश के अर्थशास्त्र के आचार्य प्रो० पी० एन० वाडिया और के० टी० मर्चैण्ट ने अपनी 'हमारी आर्थिक समस्या' (Our Economic Problem) नामक पुस्तक की भूमिका में यह ठीक ही लिखा है कि हमारे देश का हित केवल उसकी आर्थिक संस्थाओं के स्वस्थकार्य-सञ्चालन मात्र पर ही निर्भर नहीं है। उसके लिये यह भी आवश्यक है कि हमारी सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का सुसम्बद्ध और समन्वयात्मक विकास हो। हमारी आर्थिक समस्या हमारी ग़रीबी की समस्या है लेकिन वह एक और अविभाज्य समस्या है, इसलिए उसका हल उसके अलग-अलग अङ्गों पर केन्द्रित कर के नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक अङ्ग का दूसरे अङ्गों से और पूर्ण शरीर से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इस महान कार्य के लिये यह भी आवश्यक है कि देश के प्रत्येक व्यक्ति और उसकी प्रत्येक शक्ति से अनिवार्य रूप से काम

लिया जाय। यानी किसानों की भलाई के लिए काम करना हर-एक के लिए उसी प्रकार लाज़िमी है जैसे युद्धों के समय फौजों में या युद्धोद्योगों में।

यह युग योजनाओं का युग है। इसका प्रारम्भ रूस की पञ्च वर्षीय योजना से हुआ। उसके बाद अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने वहाँ के आर्थिक सङ्कट का सामना करने के लिए New Deal नाम की योजना चलाई। रूजवैल्ट के बाद हिटलर ने जर्मनी में चार वर्ष की योजना से काम लिया। फिसड्डी ब्रिटेन ने अब सब के बाद सामाजिक सुरक्षा की योजना बनाई है जो बेवरिज योजना के नाम से प्रसिद्ध है।

हिन्दुस्तान में योजना-पद्धति के पक्ष में सबसे पहले सर एम० विश्वेश्वरैया ने अपनी जोरदार आवाज उठाई और पाश्चात्य देशों के ढङ्ग पर योजनाएँ बनाने पर ज़ोर दिया। अब तो योजनाओं के सिद्धान्तादि पर प्रोफेसर के० टी० शाह और डाक्टर लोकनाथन प्रभृति की पठनीय पुस्तकें उपलब्ध हैं।

राष्ट्रीय योजना तैयार करने की ओर अच्छा कदम उठाने का काम पहले पहल राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस की राष्ट्रीय योजना (Planing) कमेटी ने किया। परन्तु सन् १९४० में वैयक्तिक सत्याग्रह छिड़ जाने के समय से इस कमेटी का काम अधूरा ही रह गया।

इन दिनों भारत-सरकार युद्धोत्तर पुनःसङ्गठन की योजनाओं का बहुत ढोल पीट रही है परन्तु ज़ाहिर है कि इन ढोलों के अन्दर भारी पोल है। उनका उद्देश भारत का, भारत के निवा-

सियों का, किसानों का सङ्कट-मोचन नहीं, बल्कि इस समय संसार का ध्यान भारतीय स्वाधीनता की समस्या से बँटाना देश-व्यापी निराशा की लहर को झूँठी आशाओं से शान्त करना तथा भविष्य में भारत की स्वाधीनता के प्रश्न को, किसानों के राज के प्रश्न को आर्थिक उन्नति के नाम पर तथा पढ़े-लिखे बेकारों और फौज से लौटे हुओं को नौकरियाँ देकर भारतीय स्वाधीनता संग्राम की बगल में होकर निकल जाने का निष्फल कूटनीतिक प्रयत्न है। तथा ब्रिटेन के अधमरे विदेशी व्यापार को इंजैक्शन देकर जिलाने और पुष्ट करने का आर्थिक प्रयत्न है।

गैर-सरकारी योजनाओं में अधिकतर योजनाएँ कल्पना-मूलक, अव्यावहारिक या राजनैतिक टोटके बाजियों, पाश्चात्य पूँजी-वादी या समाजवादी योजनाओं की नकल मात्र हैं। देश के आठ अग्रगण्य-व्यवसायियों की योजना, बम्बई योजना के नाम से प्रसिद्ध पन्द्रह वर्षीय योजना ही ऐसी है जिसे प्रभावशाली और विचारणीय कहा जा सकता है। परन्तु यह योजना भी पाश्चात्य ढङ्ग की पूँजीवादी योजना है। इस योजना का उद्देश पन्द्रह बरस में राष्ट्रीय आय को दुगुना बढ़ा देना है।

इस योजना में निर्माताओं ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उनकी यह योजना पूरी योजना या उतनी व्यापक योजना नहीं है जितनी राष्ट्रीय योजना कमेटी की होती। इस योजना का उद्देश भारत में आर्थिक योजना बनाने के विचार को आधारस्वरूप रख यथासम्भव ठोस वक्तव्य पेश करना है जिसमें विकास की आम रेखाएँ तथा देश के साधनों पर योजना की माँगें निर्धारित हों। इस

योजना में ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर कोई विचार नहीं किया गया है जैसे योजना के ध्येय को पूरा करने के लिए आवश्यक संगठन तथा किस प्रकार की क्रियाओं की आवश्यकता होगी। वितरण की समस्या को कैसे हल किया जायगा तथा देश की आर्थिक कार्यवाहियों पर सरकार का कितना नियन्त्रण होगा। योजना-निर्माताओं का कहना है कि इन समस्याओं पर अभी हम विचार कर रहे हैं। अपने विचार के परिणामों को दूसरी रिपोर्ट में प्रकाशित करेंगे। योजना प्रति व्यक्ति की आमदनी को दुगुना करना चाहती है। इसके लिए वह राष्ट्र की कुल आम-दनी को तिगुना करेगी। क्योंकि पन्द्रह साल में आबादी साढ़े सात करोड़ और बढ़ जायगी?

योजना-निर्माता यह मान कर चले हैं कि इस योजना की पूर्ति देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होंने पर ही हो सकती है। बम्बई-योजना की उपर्युक्त कमियाँ और आवश्यकताएँ पूरी भी हो जायँ तब भी समस्त योजना के सम्बन्ध में यह प्रश्न रह ही जाता है कि उसका उद्देश केवल राष्ट्र की फी व्यक्ति आमदनी बढ़ा देना भर है और आङ्गल अर्थ शास्त्र के एक सुप्रसिद्ध आचार्य पीगू ने अपनी "लोकहित का अर्थशास्त्र" नामक प्रगाढ़ विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थ में यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि राष्ट्रीय विभाग के आकार की वृद्धि-मात्र से राष्ट्र का हित हो ही यह निश्चित नहीं है, वल्कि कुछ दशाओं में राष्ट्र की आमदनी बढ़ जाने पर भी जनता की दृष्टि से कुल मिला कर राष्ट्रीय हित की हानि हो सकती है यदि

राष्ट्रीय विभाज्य का स्रोत (Chanele) उसका वितरण और उसका उपयोग ठीक-ठीक न हो। अर्थात् विशुद्ध अर्थ शास्त्र की दृष्टि से भी केवल आर्थिक उन्नति स्वतः वाञ्छनीय उद्देश नहीं है। मानवी और सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि से तो वह और भी अपूर्ण है। इसीलिए कांग्रेस राष्ट्रीय योजना कमेटी का कहना है कि "योजना में सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का जीवन के मानवी पहलू का समावेश आवश्यक है।"

तात्पर्य यह कि कोई भी योजना बनाने से पहले हमें ऐसी योजना के उद्देश सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्थिर कर लेना चाहिए। प्रोफेसर कोल का कहना है कि राष्ट्रीय उन्नति की योजना का उद्देश राष्ट्र के प्राप्य साधनों का पूरा पूरा उपयोग करके राष्ट्रीय आय बढ़ाना तथा उस आय का वितरण इस प्रकार करना है जिससे उस आय के उपयोग से ऐसे माप-दण्डों को बढ़ाया जाय जो सब में व्यापक हित के सब से अधिक अनुकूल हों।" इसमें राष्ट्रीय आय के स्रोत वाले आवश्यक पहलू को बिल्कुल ही छोड़ दिया गया है और इसलिए कोल साहब का यह उद्देश कथन अपूर्ण है। इससे बहतर उद्देश-कथन वह है जो प्रोफेसर आल्डस् हक्सले ने अपनी 'साध्य और साधन' (End & Mean) नामक पुस्तक में किया है। कुछ की राय में अच्छी योजना वह है जो जिस समाज में लागू की जाय उसको उत्तरदायी तथा अनासक्त स्त्री-पुरुषों के न्याययुक्त शान्तिमय तथा बौद्धिक प्रगति सम्पन्न समाज में परिणत कर दे। डाक्टर

सन्थात सेन के राष्ट्रीयता, जीविका और लोकसेवा ये तीन सिद्धान्त भी किसान-राज योजना के पूर्ण आधार-स्तम्भ हो सकते हैं।

सिद्धान्तों के अलावा, किसी भी योजना के लिए यह आवश्यक है कि उसे बनाते समय देशकालावस्था का, देश-विदेश की वर्त्तमान परिस्थितिओं का, देश की प्रतिभा-परम्परा उसके इतिहास और उसकी मनोवृत्ति का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाय। कोई भी व्यवस्था जब तक अवस्था के अनुसार न हो तब तक उसका सफल होना सम्भव नहीं। इस दृष्टि से देखे जाने पर इस समय तक जितनी योजनाएँ देश के सामने हैं उनमें श्रीमन्नारायण अग्रवाल की गान्धीवादी-योजना ही सर्वोत्तम है। उसमें पग-पग पर लेखक की सुविज्ञता-बहुज्ञता, अगाध विद्वत्ता और सिद्धान्त-पराग बुद्धि का परिचय मिलता है। अन्यथा लगभग सर्वाङ्ग पूर्ण इस योजना में अगर कुछ कमी है तो यह कि विद्वान लेखक को किसान-जीवन का जीवन-गत ज्ञान उसके छोटे से छोटे विस्तार (Detail) का ज्ञान जितना होना चाहिये उतना नहीं। उनका ज्ञान जितना व्यापक है उतना गहरा नहीं। और दूसरे यह कि उन्होंने भी अपनी इस योजना में बम्बई-योजना की तरह किसान-राज के प्रश्न को राष्ट्रीय सरकार की आवश्यकता मात्र मान कर यों ही छोड़ दिया है, जब कि इस प्रकार की किसी भी योजना में पूर्ण स्वराज्य की किसान-राज की योजना का सम्मिलित होना अनिवार्यतः आवश्यक है, अन्यथा योजना का अङ्ग-भङ्ग हो जाता है।

प्रत्येक योजना में मुख्य प्रश्न दो होते हैं—पहला यह कि हमारी वे आवश्यकताएँ क्या हैं जिन्हें हम पूरा करना चाहते हैं, दूसरा यह कि इनको पूरा करने के लिए हमारे पास क्या साधन हैं?

पहले प्रश्न का उत्तर किसानों की आवश्यकताओं का अन्दाज बहुत कुछ उनकी कष्ट-कथाओं से मिल जाता है। फिर भी उनकी आधार-भूत कम से कम आवश्यकताओं का उल्लेख होना चाहिये। यह आवश्यक है कि प्रत्येक किसान को, देश के प्रत्येक व्यक्ति को, भरपूर पोषक भोजन मिले, कोई भूखा तो दूर आवश्यक पोषण से वंचित भी न रहे। प्रत्येक किसान अर्थात् देश के प्रत्येक व्यक्ति के पास अपने शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक वस्त्र हों, कोई नङ्गा न रहे। प्रत्येक व्यक्ति को काम मिले, कोई बेकार न रहे। प्रत्येक के पास रहने के लिए साफ-सुथरा, हवादार, स्वास्थ्य-प्रद गृह हो, कोई बे-घर न रहे। प्रत्येक गाँव में शिक्षा का प्रबन्ध हो, कोई निरक्षर तथा अशिक्षित न रहे। प्रत्येक गाँव में बीमारों के लिए दवा का समुचित प्रबन्ध हो, कोई बीमार बिना दवा-चिकित्सा और सेवा-सुश्रूषा के न रहे। प्रत्येक ग्राम में खेलों और निर्दोष विनोदों का समुचित प्रबन्ध हो तथा गाँव के रास्ते सड़कें वग़ैरः ठीक हों। समस्त देश को चौमुखी-स्वाधीनता तथा उस स्वाधीनता-सुरक्षा और आन्तरिक व्यवस्था का समुचित लोकतन्त्रीय प्रबन्ध हो।

इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमारे पास पर्याप्त ही नहीं प्रचुर साधन हैं। भारत-भूमि सुजला, सुफला मलयज

शीतला और शस्य श्यामला है। वह रत्न-गर्भा और वीर प्रस-विनी है। उसकी सन्निहित सम्भावनाएँ असीम हैं, अभी तक उनका ठीक-ठीक अनुमान ही नहीं लगाया जा सका है। जिन जर्मन सैनिकों से रूस को छोड़कर बाकी संसार भर के सैनिक काँपते हैं, वे जर्मन सैनिक भारतीय सैनिकों के सामने सर झुकाते हैं। भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षा, चिकित्सा, संस्कृति आदि के मामले में भारत को किसी का मुँह नहीं ताकना है। इन सब बातों में वह पहले भी स्वयं पर्याप्त था, अब भी स्वयं पर्याप्त हो सकता है। सच पूछिये तो भारत की इन्हीं खूबियों ने उसे दूसरों का गुलाम बनाया। इस सोने की चिड़िया के लालच से ही इस देश पर बार-बार इतने हमले किये गये। इन सब बातों में भारत संसार के समस्त अन्य देशों को जितना दे सकता है, उतना उसे उनसे लेना नहीं है यानी स्वतन्त्र भारत को किसी से भीख नहीं मांगनी, न उसे किसी का कर्जदार होने की जरूरत है। वह सम्मान-पूर्वक संसार के सब देशों के साथ परस्पर आदान-प्रदान करते हुए संसार में सुख शान्ति और समृद्धि की वृद्धि कर सकता है। वह सुखमा की खान है। उसमें सब ऋतुएँ हैं। सब प्रकार के प्रदेश हैं। उसकी भूमि उपजाऊ है। उसके पथ साधन प्रचुर हैं। मनुष्य जाति का पाँचवाँ भाग और संसार के कुल पशु-धन का तिहाई हिस्सा हमारे देश में। है यदि इस पशु-धन का ही पालन-पोषण हो तो दूध-दही की नदियों की पौराणिक कथाएँ आज भी प्रत्यक्ष हो सकती हैं। हमारा देश खनिज साधनों से भी पूर्णतया सम्पन्न है। छः हजार

करोड़ कोयला भारत-माता के पेट में कूता जाता है, उसमें से अभी तीन करोड़ साल भी नहीं निकाला जाता। संयुक्त प्रदेश अमेरिका के बाद हमारे देश में लोहे और कोयले की खान सब से अधिक है। संसार में सब से ज्यादा भुड़भुड़ और अभरक हमारे यहाँ है। समस्त संसार में जितने अभरक की खपत होती है उसका तीन-चौथाई भारत से मिलता है। दूसरे खनिज साधन में भी भारत अच्छी स्थिति में है। हमारी बल-शक्ति भी बहुत है और श्रम सम्पत्ति भी। हमारे देश के श्रमिक किसान और मजदूर बहुत मेहनती हैं। देश में साधनों के सुमेरु खड़े हैं। करोड़ों हाथ उन साधनों को स्वर्ण में परिणत करने को प्रस्तुत हैं और सब प्रकार के मानवोपयोगी तथा नर हितकारी बस्तुओं का उपभोग करने के लिए करोड़ों मुँह तथा पेट मौजूद हैं। फिर भी उत्पत्ति में वह सब से नीचे है। यानी प्रकृति या परमात्मा की कृपा की दृष्टि से भारत अत्यन्त धनी है, मनुष्यों की कृपा से संसार में सब से गरीब !

अगर राष्ट्रीय सरकार हो, देश में किसान-राज हो, तो देश के किसानों की उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति करना असम्भव तो दूर इतना कठिन काम भी नहीं है। श्रीयुत रामकेशव अयङ्गर ने अपनी Studies in Indian Rural Economics नाम की पुस्तक में यह ठीक ही लिखा है कि हमारे देश में सम्पत्ति के इतने साधन विद्यमान हैं कि अगर एकता और सङ्गठन से काम लिया जाय तो यह देश अपनी वर्त्तमान जन-संख्या से दुगुनी जन-संख्या को मजे से पाल सकता है। जल और थल की

सेनाओं में तरह-तरह के धन्धों में तथा खेती में अब से करोड़ों अधिक आदमियों को रोज़ी मिल सकती है। हमारे देश के लोगों को जितने धन्धे, रोजगार मिल सकते हैं उनकी तरफ अभी तक लोगों का समुचित ध्यान नहीं गया।"

मनुष्य की सबसे पहली आवश्यकता पेट भर भोजन ही नहीं पुष्टिकर भोजन है। मनुष्य के पूर्ण स्वास्थ्य के लिये कितना और किस प्रकार का भोजन चाहिये, इस प्रश्न पर देश के विचारकों ने विचार किया है और कर रहे हैं। डाक्टर Sykroyat के कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए, पन्द्रह औंस नाज, तीन औंस दाल, छः औंस हरी सब्जी, चार औंस हरी पत्तियों का साग, दो औंस तेल-घी, दो औंस फल, आठ औंस दूध चाहिये। बम्बई योजना में नाज एक औंस और तरकारियाँ चार औंस कम हैं। घी-तेल भी उन्होंने आधा औंस कम रक्खा है। हमारी राय में डाक्टर साहब की भोजन सूची बहतर है लेकिन उसमें गुड़-शक्कर को भुला दिया गया है, इसलिए डाक्टर साहब वाली भोजन-सूची में दो औंस गुड़-शक्कर मिला देने पर वह प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्थ्य और पुष्टि-कर भोजन की पूरी तथा अच्छी सूची बन जाती है।

देश की भोजन सम्बन्धी इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए केवल यही पर्याप्त नहीं है कि खेती की पैदावार बढ़े परन्तु यह भी आवश्यक है कि खाद्य और पोषक नाजों की पर्याप्त मात्रा उगाई जाय और यदि इस उद्देश की पूर्ति के लिए आवश्यक हो

तो रुपये या व्यापार की फसल की व्यवस्था को कम कर दिया जाय या बिल्कुल ही बन्द कर दिया जाय।

फी व्यक्ति कपड़े की औसत लगाते समय सम्भवतः इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि यह आवश्यकता भिन्न-भिन्न प्रान्तों और प्रदेशों में वहाँ की जल-वायु के अनुसार भिन्न-भिन्न होगी।

हिन्दुस्तान में सन् १९३६-३७ में फी व्यक्ति सूती कपड़े की खपत सिर्फ साढ़े पन्द्रह गज साल थी। भोजन की तरह यह भी आवश्यकता से कहीं कम थी। काँग्रेस की राष्ट्रीय योजना-समिति ने प्रति व्यक्ति सूती कपड़े की वार्षिक आवश्यकता तीस गज मानी है। बम्बई योजना में यह औसत मुनासिब समझी गई है। श्रीमन्नारायण अग्रवाल का कहना है कि अगर कपड़ा साल भर तक टिक सके तो गाँवों के किसानों के लिए फी व्यक्ति बीस गज सूती कपड़ा आवश्यक होगा। परन्तु टिकाऊपन की कमी तथा बहतर जीवन माप-दण्डादि का ख्याल करके हमारी राय में सूती कपड़े की फी व्यक्ति सालाना आवश्यकता तीस गज ही मानी जानी चाहिये। १९२८-२९ में संसार भर की फी व्यक्ति सालाना सूती कपड़े की औसत ब्यालीस गज थी। सूती कपड़े की औसत कीमत तीन आने गज मानी जाय तो यह छः रुपये साल का खर्चा बैठेगा। देहात की कीमतों और सुविधाओं को ध्यान रखकर पोषक भोजन का व्यय फी व्यक्ति पाँच रुपये माहवार यानी साठ रुपये साल बैठता है। मकान मरम्मत, दवा-दारू वगैरः अन्य फुटकर खर्च फी व्यक्ति आठ रुपये साल समझिये। इस तरह

देश के प्रत्येक व्यक्ति की जीवन-सम्बन्धी आधारभूत आवश्यकताएँ, भोजन, वस्त्र, मकान चिकित्सादि की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि देश की आमदनी फी व्यक्ति कम से कम चौहत्तर रुपये साल हो।

इस समय देश की फी व्यक्ति सालाना आमदनी के अंदाज बहुत अलग अलग हैं।

बम्बई योजना ने हमारी राष्ट्रीय आय फी व्यक्ति पैंसठ रुपये साल कूती है। हम बम्बई योजना के इस अङ्क को सही नहीं समझते हैं। एक तो योजना-निर्माताओं ने स्वयं यह माना है कि इस समय के सब अङ्क पर्याप्त और विश्वसनीय नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यह औसत भी भ्रमात्मक और घातक है। इस औसत से केवल अङ्कगणित की दृष्टि से, हिसाब से औसत आमदनी के आँकड़े ठीक बैठ जाते हैं लेकिन यह हिसाब वैसा ही है जैसा "हिसाब ज्यों का त्यों कुनबा डूबा क्यों" वाली मशहूर कहावत में था। कहावत यह है कि हिसाब-किताब और नाप-जोख में विशेषज्ञ एक पटवारी अपने पूरे परिवार के साथ अपने गाँव से रिश्तेदारी के किसी दूसरे गाँव में जा रहा था। रास्ते में एक नदी पड़ी। वहाँ नाव थी नहीं। पटवारी ने नाप-जोख करके नदी के पानी की ठीक-ठीक औसत लगाई तो पानी कमर-कमर से नीचा ही बैठता था। पटवारी ने निश्चिन्त होकर परिवार को पार जाने की आज्ञा दे दी लेकिन बीच नदी में पहुंच कर सब का सब परिवार डूब गया। पटवारी को बड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा कि कहीं हिसाब में मुझ से भूल तो

नहीं हो गई। इसलिए हिसाब उसने फिर जाँचा और वह बिलकुल ठीक निकला। बेचारा पटवारी क्रोध और शोक से पागल होकर बार-बार यही पूछने लगा कि "हिसाब ज्यों का त्यों कुनबा डूबा क्यों ?" वहाँ होकर जाते हुए एक पथिक किसान ने उसकी यह दयनीय दशा देख कर उसे समझाया कि मूर्ख औसत हिसाब तो ठीक है लेकिन औसत में बीच के गड्ढों का तो कोई पता नहीं चलता। यही बात इस पैंसठ रुपये साल वाली फी व्यक्ति की आमदनी के लिए लागू है। इस औसत से कुल राष्ट्रीय-विभाग को कुल जन-संख्या से भाग दे दिया गया है। अङ्कगणित बिल्कुल ठीक है। लेकिन यह भुला दिया गया है कि वास्तव-जीवन में राष्ट्रीय विभाज्य बराबर-बराबर नहीं बँटा हुआ है। हिन्दुस्तान में एक फीसदी आबादी के पास राष्ट्रीय आमदनी का पैंतीस फीसदी हिस्सा है। बत्तीस फीसदी के पास सैंतीस फीसदी और बाकी सरसठ फीसदी के पास सिर्फ बत्तीस फीसदी।

मध्यप्रदेश में, सूबे के सब जिलों में छः सौ छः गाँवों की जाँच करके पता लगाने पर मालूम हुआ कि वहाँ की फी व्यक्ति सालाना आमदनी बारह रुपये साल के लगभग है। संयुक्त-प्रान्त में भी हम यह जानते हैं कि गाँव में जिस व्यक्ति की छः या आठ रुपये माहवार की नौकरी मिल जाती है वह खाता-पीता, हिल्ले से लगा हुआ माना जाता है। ऐसे व्यक्ति को अपने अलावा तीन-चार और व्यक्तियों का पालन-पोषण करना पड़ता है। इस प्रकार औसत आमदनी गाँवों में फी व्यक्ति डेढ़ रुपये

माहवार यानी अठारह रुपये साल बैठती है। हिन्दुस्तान भर के लिये अठारह-उन्नीस रुपये साल फी व्यक्ति सालाना आमदनी मानना ठीक होगा। उस दशा में हमें देश के प्रत्येक व्यक्ति की जीवनावश्यकताओं को पूरा करने के लिए फी व्यक्ति आमदनी आज से चौगुनी करनी पड़ेगी क्योंकि यह हम देख चुके हैं कि चौहत्तर रुपये साल से कम में किसी व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं। हमें पूरा विश्वास है कि देश के प्रत्येक व्यक्ति को जीवनावश्यकताओं को पूरा करने के लिए जितनी आमदनी बढ़नी चाहिए उतनी आसानी से बढ़ सकती है। क्योंकि राष्ट्रीय विभाज्य पाँच वर्ष में दुगुना भी हो गया तो वह फी व्यक्ति १२८ रुपये साल हो जायगा। केवल वृद्धि का बराबर बराबर वितरण किया जाय तो किसानों की फी व्यक्ति आमदनी ६४+१८=८२ रुपये साल हो जायगी।

किसानों की आमदनी बढ़ाने के लिए हमें दोनों दिशाओं में बराबर ध्यान देना होगा। एक ओर किसानों का शोषण बन्द करना होगा। दूसरी ओर उनकी आमदनी बढ़ानी होगी। बल्कि सही बात यह है कि आमदनी बढ़ाने से उस समय तक कोई लाभ नहीं जब तक कि उनके शोषण को बन्द न किया जाय, क्योंकि जब तक शोषण जारी रहेगा तब तक किसानों की आमदनी चाहे जितनी बढ़ जाय वह उनके पास नहीं रहने पावेगी। किसानों की आमदनी रूपी हनूमान अपना कलेवर जितना बढ़ावेंगे उससे दुगुना शोषण-सुरसा अपना बदन बढ़ा लेगी। हाल का विश्व व्यापी महायुद्ध हमारे इस कथन का

ज्वलन्त उदाहरण है ? युद्ध के कारण नाज बहुत महँगे होगये। किसानों की आमदनी बढ़ी। वह उनके पास रहने पाती तो किसानों के बरसों पीछे के और बरसों आगे के कष्ट कट जाते। परन्तु वह उनके पास रहने कब पाई ? बकाया लगान के नाम पर, जमीदार करजे के नाम पर, बौहरे महँगी कीमतों के नाम पर, चोर मार्केट वाले तथा सरकारी अहलकार चन्दे कर्जे और रिश्वत के नाम पर उन पर टूट पड़े और उन बेचारों की आमदनी जैसी आई वैसी ही चली गई। करोड़ों रुपयों के युद्ध-कर्जे इकट्ठा करने और गवर्नरों को सोने से बराबर तोले जाने वाली कहानियों को कौन नहीं जानता ?

भारतीय ग्राम-अर्थ शास्त्र के समस्त विद्यार्थी भी यह मानते हैं कि रंगून, कलकत्ता, बम्बई वग़ैरः की नौकरियाँ और रोजगारों से किसानों की जो आमदनी बढ़ती है वह किसानों के घरवालों के पेट में न जाकर बौहरों और जमीदारों तथा अत्याचारियों की जेबों में जाती है।

इसीलिए हम यह कहते हैं कि किसानों की सङ्कट-मोचन की समस्या केवल कृषि और घरेलू उद्योग-धन्धों की उन्नति की समस्या नहीं है, वह किसानों के उत्थान की समस्या है। शाही कृषि-कमीशन ने यह माना है कि "किसानों में बहतर जिन्दगी की ख्वाहिश पैदा करने और हर एक किसान में दूसरों की जालसाजियाँ और दूसरों के अत्याचारों से बचने की शक्ति पैदा करने की आवश्यकता है। और यह काम इस ढङ्ग से

होना चाहिये कि जिससे किसानों के आत्म-सम्मान के भाव को तथा उनके स्वतंत्रता के मर्दाने भाव को धक्का न लगे।

मिस्टर ब्राइन का कहना है कि किसान सदैव भय का जीवन व्यतीत करता है। भूख और अकाल का भय, बीमारी और अदालत का भय, बौहरों का भय सदैव उन्हें सताता रहता है। हमारा काम उनके इन भयों को दूर करना है। शाही कमीशन के सामने ब्राइन साहब ने कहा था कि "किसानों को स्वस्थ और विवेक युक्त मानव जीवन बिताना सिखाने के मुकाबिले में खेती की तरक्की कोई मानी नहीं रखती। शाही कृषि कमीशन के सामने गवाही देते हुए महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय ने कहा था कि "यदि भारत के किसानों को सुखी और समृद्ध बनाना है, जिस जीवन संग्राम में वे जकड़े हुए हैं उसमें काम-यावी हासिल करने के लिए अभी मदद करनी है तो उन्हें इस जीवन से कहीं अधिक अनुपम और आशामय तथा आर्थिक दृष्टि से बहतर "जिन्दगी बशर करने योग्य बनाना चाहिये जैसी कि वे आज बिताते हैं। उनमें मनुष्य-मात्र की प्रतिष्ठा का भाव आत्म-सम्मान और आत्मावलम्बन का भाव पैदा करना होगा। उन्हें यह सिखाना होगा कि वे जमीदार, पटवारी, अदा-लत और महकमे माल वगैरः के सभी सरकारी अहलकारों के सामने अपनी आँखें नीची न करें। उन्हें यह सिखाना होगा कि उन्हें भी नागरिकों के वे अधिकार प्राप्त हैं जो दूसरों को।"

कुमारी वीरा एन्सटी का यह कथन अक्षरशः सच है कि "जिस सरकार पर रिआया का पूरा विश्वास न हो और जिसे रिआया

की मदद न मिले वह किसानों के संकटों को दूर नहीं कर सकती। आइन साहब की भी यही राय है कि किसानों की भलाई का काम सरकारी अहलकारों के ज़रिये नहीं होना चाहिए। इङ्गलैण्ड की आज-कल की और पुराने समय में खेती की तुलना करते हुए मिस्टर रौलैण्ड ने कहा है कि पुराने जमाने में किसानों का समाज में एक निश्चित स्थान था और वे स्वतन्त्र थे। अपने धन्धे में दक्षता, अनुभव और बुद्धिमानी के लिए उनकी इज्ज़त की जाती थी। उनके आचार विचार उनकी रुचियाँ तथा उनकी प्रकृति उच्च श्रेणी के लोगों से भिन्न न थी। लेकिन अब किसानों में यह भाव आ गया है कि हमें नीची निगाह से देखा जाता है। इसीलिए उनकी भलाई के जितने प्रयत्न किये जाते हैं उनका वह या तो मज़ाक उड़ाता है या उनसे बुरा मानता है। सफाई चिकित्सा इत्यादि के लिए जितने प्रबन्ध किये जाते हैं उन सब को वह यही समझता है कि बड़े आदमी हम गरीबों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, इसीलिए ये सब चोचले करते हैं।

संसार प्रसिद्ध उपन्यास कार काउन्ट टाल्सटाय ने अपने उपन्यासों में किसानों की इस सन्देह कहानी का बहुत ही सजीव चित्र खींचा है।

इन्हीं सब बातों के कारण किसानों ने उत्थान का मुख्य प्रश्न उन्हें निर्भय बनाने, उनमें आशा तथा साहस का संचार करने, उनमें स्वावलम्बन तथा आत्मसम्मान का भाव जाग्रत करने की उनमें उन्नति की इच्छा और उसकी सम्भावना की आशा

उत्पन्न करने का सवाल है और यह सवाल किसानों के सन्देह को दूर करने के लिए गैर-सरकारी हाथों से ही होना चाहिये। इस मूल तत्व को हृदयङ्गम न कर सकने के कारण ही हमारे प्रान्त के ग्राम-सुधार विभाग के काँग्रेसी मिनिस्टर महोदय ने विना जाने, मेरी ग्राम सुधार योजना को सरकारी हाथों में देकर उसे विफलता का अभिशाप दे दिया था।

किसानों का आर्थिक शोषण बन्द करने के लिए सब से पहली आवश्यक बात यह है कि किसानों को जमीन पर पूरा हक दे दिया जाय। चाहे कोई कुछ कहे, किसान न तो यह मानने के लिए तैयार है कि जमीन जमींदारों की है, न यही कि वह सरकार की है। गाँधी कहें या स्तालिन किसान, 'कृसासः पृथिवी पतिः' के वेद वाक्य को नहीं भूलेंगे, नहीं भूलेंगे, नहीं भूलेंगे। इस मन्त्र को उनके मन से निकाल भगाने के लिए आप भारत में भी रूस की तरह लाखों किसानों को भले ही कत्ल कर दें। इसीलिए श्रीमन्नारायण अग्रवाल के इस सुझाव से हमें मौलिक विरोध है कि भूमि का राष्ट्रीयकरण हो। सब किसानों की एक ही पुकार "जो जोते सो जमींदार" हमारा यह नारा ही किसानों का जीवन नारा है। किसान-राज और किसानों की जमीन के दो पहियों पर ही किसानों की प्रगति का रथ नर को नारायण तक ले जायगा। हमें किसानों को अपनी जमीन का मालिक बनाना होगा। यदि हम यह काम नहीं करेंगे तो लूईफिशर से महात्मा गांधी के कथनानुसार किसान स्वयं जमींदारों से अपनी जमीन ले लेंगे, और जमींदार

अपने तथा अपने बाल-बच्चों की जान व इज्जत बचाने के लिए गाँवों से भाग कर हाथ के बजाय पैरों से किसानों के जमीदार होने के पक्ष में वोट देंगे। भारत की प्राचीन परम्परा जमीन पर किसानों के स्वामित्व की ही समर्थक है। समाज और जमीदार समय रहते चेत जायँ तो यह प्रश्न सब के लिये सरलता से सुलझ सकता है। जमीदारों के लिए धर्म्म क्षति-पूर्ति का, जीविका का, पारिवारिक जोत का, अन्य व्यवसायों का प्रबन्ध हो सकता है। उनका मान उनकी इज्जत और समाज में उनकी प्रतिष्ठा बच सकती है। यदि वे हवा के रुख को देख कर समस्या को सुलझाने में बाधक न होकर सहायक हों! जमीदारों को हर्जा देने न देने का सवाल व्यावहारिक राजनीति का सवाल है, नारों या कोरे सिद्धान्तों का नहीं। गृह-कलह, राष्ट्रीय शक्ति किसानों की शक्ति का अप-व्यय और खून खराबी बचे तो उसके लिए धर्म्म क्षति-पूर्त्ति सर्वदा उचित होगी और यदि समाज तथा जमीदारों ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया तो संसार की कोई भी शक्ति किसानों को बड़े-बड़े जमीदारों की जमीन छीन कर उन्हें बाँट लेने से नहीं रोक सकती। इसीलिए हम इस बात के पक्ष में हैं कि राजा जमींदार और मार्क्सवादी सब अपने-अपने हठों को छोड़कर शान्तिपूर्वक कानून द्वारा, भूमि पर किसानों के स्वामित्व की होनी को मान लें।

लगान मौजावारी सामूहिक रूप से पंचायत के द्वारा वसूल किया जाना चाहिये। लगान को दर बहुत कम होनी चाहिये।

पूर्वनिश्चित फी व्यक्ति सालाना राष्ट्रीय आय कम से कम चौहत्तर रुपये मान कर और एक किसान-परिवार को औसतन चार व्यक्तियों का मान कर तथा मजूरी की, आमदनी को इस दो सौ छियानवे में से घटाकर कम से कम डेढ़सौ रुपये तक मुनाफे की प्रत्येक जोत को लगान से मुआफ करना होगा। यानी किसानों को जमींदार होने पर और मौजूदा जमींदारों की इस समय तक की सौ रुपये साल तक की मालगुजारी को, तात्पर्य यह कि जिन जोतों से किसान-परिवार का गुजारा नहीं होता उनको लगान मालगुजारी से बरी करना होगा। किसानों का बेदखली का तथा लगान अथवा मालगुजारी के मनमाने बाढ़े को भी स्थायी रूप से भगाना होगा।

जमीन की स्वामित्व की समस्या के बाद किसानों का शोषण रोकने की दूसरी समस्या किसानों को कर्जे से छुड़ाने की समस्या है। सैन्ट्रल बैङ्किङ्ग जाँच कमेटी ने मोटे तौर पर गाँवों में कर्जे की तादाद नौ अरब कूती थी, १९३३ में रिजर्व बैङ्क ने अठारह अरब। तब से लेकर अब तक अवश्य ही उस में कुछ हेर-फेर हुये होंगे। लेकिन इन दिनों सब बातों पर विचार करके यही अनुमान सही मालूम होता है कि यह कर्जा बारह अरब होगा। इस दिशा में कर्जा निपटाने वाले बोर्डों ने उपयोगी काम किया। उन्होंने आपस में तस्फिया करने में कर्जा एक तिहाई से लेकर आधा तक कम करा दिया। पंजाब में वहाँ के किसान चालीस लाख के बजाय चौदह लाख कर्जा देकर बरी हो गये। यदि पंजाब को ही तरह देश भर में हो जाय तो कर्जा स्वयं ही

बारह अरब से चार अरब के करीब तो वैसे ही रह जाय। इनमें से जो किसान कर्ज देने लायक ठहराया जाय उसे भी न दे सके तो रिजर्व बैङ्क से कर्जा लेकर जमीन-बन्धक कर बैङ्क बौहरों का कर्जा चुका दे और किसानों से उसे छोटी-से-छोटी सालाना किश्तों में वसूल करले।

थोड़े से अध्ययन, उचित व्यवस्था और आवश्यक उपायों से काम लेने पर किसानों को कर्जे से आसानी से बरी किया जा सकता है। सब कर्जों की जाँच करके बेईमानी के कर्जे रद्द कर दिये जाँय। जिस कर्जे पर लगातार दस साल व्याज मिल चुकी हो या मूल से दुगुना रुपया पहुँच चुका हो, वे भी रद्द कर दिये जाँय। किसानों पर जो कर्जा इन सब उपायों के बाद बचे उसे भी जो किसान न अदा कर सकें उनका रुपया सरकार बोण्ड जारी करके अदा कर दे तथा किसानों से बीस साल में छोटी-छोटी किश्तों में ले ले। किसानों को पुराने कर्जे से बरी करने के साथ साथ उनके लिए छः फीसदी की व्याज पर आवश्यक ऋण सरलता पूर्वक मिलने की पूरी पूरी व्यवस्था पञ्चायतों, ऋण-सहयोग-समितियों, जमीन बन्धक बैंकों इत्यादि की मारफत होनी चाहिये।

घरों की समस्या के सम्बन्ध में बम्बई योजना का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सौ वर्गफीट के हिसाब से जगह चाहिए। १९४१ की मर्दुम शुमारी के अनुसार भारत में एक करोड़ घर कसबों में थे और साढ़े छः करोड़ से ऊपर गाँवों में अर्थात् एक घर में पाँच से कुछ अधिक व्यक्तियों की औसत

थी। १६३१ में पूरे पाँच की औसत थी। पाँच व्यक्ति फी घर मानने पर हर घर में पाँच सौ वर्ग फीट रहने को चाहिये। बम्बई योजना का कहना है कि इतना बड़ा मकान प्रत्येक परिवार के लिए बनाने में चार सौ रुपए गाँवों में और आठ सौ कसबों में लगेंगे। इसके लिए साढ़े चौदह अरब रुपये चाहिए और इनकी मरम्मत के लिए ढाई अरब रुपये साल।

प्रान्तों के बनाव में तथा घरों की बनावट में स्वास्थ्य-सौन्दर्य की दृष्टि से कायापलट करने की आवश्यकता है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता। परन्तु हमारी राय में गाँवों में मकानों की समस्या उच्च कोटि की कदापि नहीं। जैसी यूरुप अमेरिकादि देशों में या भारत के शहरों में खास तौर पर मध्य वर्गीय लोगों और मजदूरों के लिए है। किसान-सरकार को गाँवों में सरकार की तरफ से मकान बनवाने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उसे केवल गाँव बसाने की और अच्छे घरों की सुन्दर योजनाएँ बनाने, इन योजनाओं के अनु-सार नमूने के गाँव बसाने और घर बनाने तथा किसानों में इनका प्रचार भर करने की आवश्यकता पड़ेगी। बाकी लकड़ी की थोड़ी सी दिक्कत को छोड़ कर जिसे आसानी से दूर किया जा सकता है। गाँवों में प्रायः घर बनाने का सब सामान वहीं मिल सकता है और किसान स्वयं अपने स्वस्थ और सुन्दर घर और गाँव बना तथा बसा सकते हैं। जहाँ कहीं इस सम्बन्ध में वास्तविक कठिनाई हो उसे गाँवों की पंचायतें तथा मकान बनाने की सहयोग-समितियाँ पूरा कर सकती हैं। इन सब के

बाद किसान-सरकार के लिए कुछ करना बाकी भी रह जाय तो वह इतना नहीं होगा कि उसे इस योजना में स्थान दिया जाय। बम्बई-योजना में इस मद में साढ़े चौदह अरब रुपये का प्रबन्ध इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि योजना-निर्माताओं पर आम तौर पर पाश्चात्य अवस्थाओं का और खास तौर पर भारत की अवस्थाओं का बहुत अधिक प्रभाव है।

किसानों के लिए पोषक भोजन, काफी कपड़ों और स्वस्थ तथा सुन्दर घरों का प्रबन्ध होने के बाद उनके स्वास्थ्य, आरोग्यता, सफाई और चिकित्सा का सवाल आता है। इनमें सफाई, स्वास्थ्य और आरोग्यता के नियमों की शिक्षा का काम पंचायतों के ज़रिये डिस्ट्रिक्टबोर्डों को कराना चाहिए। गाँवों की पाठशालाओं में इन बातों की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। अध्यापकों के कर्त्तव्यों में इन बातों के ज्ञान और उनकी आवश्यकता का प्रचार भी होना चाहिए। गाँव के लोगों में खाद व घूरे के लिए तथा पानी वग़ैरः के लिए गड्ढे खोदने की आदत डालनी चाहिए। गाँवों में खुले में पाखाना फिरने की, चूतड़ों की प्रदर्शिनी करने की, लज्जा जनक तथा हानिकर कुप्रथा बन्द होनी चाहिए और उसकी जगह खेतों में ख़ाइयाँ खोद कर आड़ लगानी चाहिए। इससे लज्जा, खाद और सफाई तीनों का काम चल जायगा।

गाँवों में पीने के पानी का बहुत अधिक कष्ट है। इस सम्बन्ध में उन ग़रीब परिगणित जातियों की जो मूर्खतावश अछूत मानी जाती हैं इतनी दयनीय दशा है कि जिन गाँवों में कुए होते हैं उन

से भी उन्हें पानी नहीं भरने दिया जाता। हर गाँव में पानी पीने के साफ कुएँ होने चाहिए तथा हर व्यक्ति को उनसे पानी लेने, पीने की सुविधा होनी चाहिए।

हर गाँव में जच्चों और बच्चों की जान बचाने का पूरा-पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। हमारे देश में हज़ार पैदा होने वाले बच्चों में एक सौ सरसठ पैदा होते ही मर जाते हैं। उपयुक्त केन्द्रों में जच्चाखानों और बच्चा-खानों का समुचित प्रबन्ध आवश्यक है। हर गाँव में दवाखाना और सुविधाजनक हर ग्राम-समूह में एक अस्पताल अवश्य होना चाहिए। चिकित्सा, यूनानी, आयुर्वेद और होमियोपैथिक पद्धति से होनी चाहिए। तथा सफल प्राकृतिक और रासायनिक नवीन पद्धतियों से भी काम लिया जाना चाहिये। दवाएँ सस्ती, सरल तथा कारगर होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में महात्मा गान्धी के आदेशानुसार घरेलू चिकित्सा पर जो पुस्तक तैयार हुई है—वह बहुत ही उपयोगी तथा बहुमूल्य है। उसमें एक आने में एक हफ्ते तक कारगर दवाओं का प्रबन्ध किसानों के कल्याण के लिए राम-बाण है। इस दिशा में तनिक भी उद्योग किया जाय तो चमत्कार-पूर्ण चिकित्सा-प्रणाली का विधान हो सकता है। इसमें ऐलोपैथी की समस्त अच्छी बातों को भी पूर्णतया समाविष्ट कर लिया गया है।

अब रहा गाँवों में, शिक्षा का प्रबन्ध। १९११ की जनगणना के अनुसार हमारे देश में अभी केवल सौ पीछे बारह व्यक्ति साक्षर हैं। हमें अभी अठासी फीसदी को साक्षर करना है। साक्षरता का प्रश्न केवल बच्चों को लिखना-पढ़ना तथा

हिसाब करना सिखाने का ही सवाल नहीं है, उसमें निरक्षर वयस्कों को साक्षर करने का प्रश्न सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त साक्षरता, शिक्षा का एक आवश्यक साधन अवश्य है, परन्तु वही शिक्षा नहीं है। अभी हमारे देश की सरकार किसानों की शिक्षा की कोई उपयोगी योजना तक नहीं बना पाई है। परन्तु महात्मा गान्धी के नेतृत्व में वर्धा-शिक्षा-योजना के नाम से जो शिक्षा-पद्धति-प्रचारित तथा प्रचलित हुई हैं उसने इस कमी को पूरा कर दिया है। बेसिक शिक्षा से पहले बहुत छोटे बच्चों की शिक्षा की जो योजना गुजरात में आचार्य गिजूभाई ने सफलतापूर्वक बाल-मन्दिरों द्वारा प्रचलित की है उससे किसान कुमारों की शिक्षा-सम्बन्धी सब आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं। सात साल की बेसिक शिक्षा सबके लिए अनिवार्य होगी। शिक्षा-योजना में न केवल सिर्फ अंग्रेजी छोड़ कर और सब बातों का मैट्रिक तक का ज्ञान ही हो जाता है बल्कि उससे अर्थकर धन्धों की खासी अच्छी शिक्षा मिल जाती है। डिस्ट्रिक्टबोर्ड की देख-रेख में इन स्कूलों का प्रबन्ध ग्राम-पञ्चायतों द्वारा होना चाहिए।

सैकिण्डरी शिक्षा में आगे की कलामोशन सम्बन्धी शिक्षा तीन साल तक उन धन्धों में दी जानी चाहिए जो बेसिक में सीखे गए हैं तथा विज्ञान की शिक्षा भी दी जानी चाहिए।

आज-कल कालेजों की अधिकतर पढ़ाई बिल्कुल बेकार है। इन विश्वविद्यालयों में जो पौने दो लाख विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं, उनका समय स्वास्थ्य और रुपया व्यर्थ ही नष्ट होता है। ये कालेज विज्ञान तथा उच्चतर कला-कौशल सम्बन्धी शिक्षा के

ज्ञान-प्रयोग और खोज के केन्द्र होने चाहिए। इनमें डाक्टरों, नर्सों, अध्यापकों, इंजीनियरों और ग्राम-कार्यकर्त्ताओं इत्यादि की शिक्षा होनी चाहिए। शेष विषयों के लिए ऐसे सरकारी विश्वविद्यालय होने चाहिये जो स्वावलम्बी हों, जिनका खर्च उनकी फीस से चल जाता हो। तथा इन बातों के लिए गैर-सरकारी दान पर चलने वाले कालेज होने चाहिये। सब जगह शिक्षा का माध्यम वहाँ के लोगों की मातृ-भाषा होनी चाहिए। वयस्कों को भी धन्धों की तथा स्वास्थ्य आरोग्यता, स्वच्छता, नागरिक अधिकार और सहयोग पर आधारित सामूहिक उद्योगों की शिक्षा दी जानी चाहिए। देशी रास, स्वाँग, नाटक, सामूहिक नृत्य, सामूहिक गानादि को पुनुरुज्जीवित करने के लिए सस्ता साहित्य होना चाहिये जिसमें जन गीतों, लोक'गीतों तथा लोक-साहित्य की मात्रा हो।

शिक्षा और चिकित्सा सम्बन्धी व्यय बम्बई-योजना ने क्रमशः दोसौ सरसठ करोड़ तथा दोसौ इक्यासी करोड़ कूता है तथा श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने क्रमशः दोसौ पिचानवे और दोसौ साठ करोड़। हम इन दोनों ही अङ्कों को सही नहीं मानते। पहले स्वास्थ्य को लीजिए। दोनों में हर गाँव में एक डाक्टर, एक या दो नर्स तथा एक मिडवाइफ की आवश्यकता बताई गई है। दोनों में दवाखाने तथा मदरसे के लिए अलग अलग इमारतों का खर्च जोड़ा गया है। ऐसा करते हुए दोनों ने ही पाश्चात्य विचारधारा का अनुकरण किया है। हमारा विचार है कि गाँवों की दाइयों और धायों को आवश्यक शिक्षा भर दे दी जाय और

इस शिक्षा में गाँवों में जो हजारों बरस के अनुभव पर आधारित ज्ञान बना हुआ है उसका पूरा उपयोग किया जाय तथा उसे बढ़ाया जाय तो यह काम कहीं अधिक सस्ते में और अधिक सफलतापूर्वक हो सकता है। इसी तरह इमारतों के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि हर गाँव में एक मन्दिर, मसजिद, गुरु-द्वारा, गिरजाघर कोई न कोई धर्म-स्थान अवश्य होता है। कहीं न हो तो बड़ी ही सरलतापूर्वक बनवाया जा सकता है—स्वयं गाँव वालों द्वारा। ये सब स्थान गाँवों के लिए, किसानों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, कला, संस्कृति और प्रकाशन तथा साहित्यिक जीवन के केन्द्र बनाये जा सकते हैं। हर गाँव में प्रत्येक पुजारी, फकीर इत्यादि को हर फसल पर तथा दूसरे धार्मिक सामाजिक अवसरों पर उनके जीवन-निर्वाह के लिए काफी मिल जाता है। किसान और गाँव वाले इनसे धर्म और न्यायपूर्वक यह माँग कर सकते हैं कि ये लोग अपना धर्म पालें, गाँव और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन में लगें, मुफ्त न खायं, अधर्म न करें। ऐसा करने पर शिक्षक और चिकित्सक की, गाँव के सेवक और पथ-प्रदर्शकों की समस्त आवश्यकता तुरन्त सहज हो पूरी हो जायगी और इमारतों का सवाल भी हल हो जायगा। पञ्चायत, पाठशाला, दवाखाना, सभा-भवन सब इन्हीं धर्म-स्थानों में हो सकते हैं। हैं। पण्डित और पुजारी के लिए शिक्षा और चिकित्सा की शिक्षा-दीक्षा इन कामों का अधिकारी होने के लिए अनिवार्य की जा सकती है। इस तरह काम करने में गाँव वाले धार्मिक जड़ता और मूढ़ता से भी मुक्त हो जायँगे तथा उनका सनातन धर्म

भाव भी ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। गाँवों के किसानों के पास पड़ी हुई इस असीम शक्ति की उपेक्षा करना या उसे बेकार जाने देना, विनष्ट होने देना परले सिरे की मूर्खता है। कसबों और शहरों में भी इन साधनों से पूरा पूरा काम लिया जाना चाहिए। सामाजिक समता-सिद्धान्त की यह माँग है कि हम समाज के समस्त साधनों का पूरा पूरा उपयोग करें। सिखों का कुछ हद तक सफल गुरुद्वारा-सुधार-आन्दोलन इस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन का काम कर ही रहा है।

गाँवों में किसानों के लिए खेलों, अखाड़ों, विनोदों तथा साहित्य का प्रबन्ध भी अनिवार्य है। आजकल के गाँवों के गन्दे और नीरस जीवन से घबड़ा कर गाँवों के ही शिक्षित युवक गाँवों को छोड़ कर शहरों में भाग जाते हैं। इसके अभाव में गाँवों में अपराधों की वृद्धि भी होती है। गाँवों का स्वास्थ्य सुधारने, उनका शारीरिक विकास करने, उनका मानसिक धरातल ऊँचा उठाने, उनमें सहयोग का भाव पैदा करने, उनके चरित्र का निर्माण करने, उनमें तरह-तरह की शिक्षाओं का प्रचार करने तथा उनका सामाजिक और सांस्कृतिक भाव बढ़ाने में, एवं उनके जीवन को सरस बनाने में खेलों, अखाड़ों और विनोदों का उपयोग किया जा सकता है। डिस्ट्रिक्टबोर्ड पंचायतों के जरिये इधर ध्यान दें तो परम्परागत देशी मेलों, खेलों, तीज-त्यौहारों, रास, स्वांग, नौटंकी, नाटक, होली, झूला-हिंडोले, आल्हा, रसिया, मल्हार, लोक गीत आदि के रूप में इतनी सामिग्री पड़ी है कि जिसके उपयोग से थोड़े ही समय

में इस सम्बन्ध में रूस से कहीं अधिक चमत्कारिक सफलता करके दिखाई जा सकती है।

किसानों के भोजन की समस्या को हल करने के लिए उनकी आमदनी तथा राष्ट्रीय आय और विभाज्य को बढ़ाने के लिए कृषि सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है और अभी हमारे देश में कृषि की उन्नति की बहुत गुञ्जाइश है। अभी तो ब्रिटिश भारत में पैंतीस फी सदी ऐसी जमीन पड़ी है जिसमें खेती की जा सकती है। प्रो० बाउली और रौबर्टसन (Bowley & Robertson) की राय है कि जमीन जोतने योग्य बनाई जा सकती है। संयुक्तप्रदेश अमेरिका में इस सुझाव का प्रयोग हो रहा है। सूखी खेती और धूल-हीन खेती के प्रयोग भी आरम्भ हो गये हैं। हमारे देश में अभी जितनी जमीन पर खेती हो रही है उतनी ही जमीन पर उपयुक्त उन्नत साधनों से काम लिया जाय तो खेती की पैदावार निस्सन्देह दुगुनी हो सकती है। भारतीय अर्थशास्त्र के आचार्य डा० लोकनाथन ने अपनी Principles of Economic Planning में लिखा है कि वैज्ञानिक खाद और वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके हिन्दुस्तान में खेती की पैदावार दुगुनी बढ़ाई जा सकती है। आरनोल्ड लप्टन साहब का कहना है कि वह चौगुनी हो सकती है। यह स्पष्ट है कि हमारे देश में फी बीघा पैदावार दूसरे देशों की फी बीघा पैदावार से कई गुनी कम है और कोई कारण नहीं है कि दूसरे देशों में जितनी फी बीघा पैदावार होती है उतनी हमारे देश में न हो।

सर जान रशल ने खेती की उन्नति के कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए चार कारण जरूरी बताये हैं। (१) गाँव की आबादी का एक सा होना। (२) किसानों का साक्षर होना। (३) कृषि शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होना तथा लोक हाई स्कूलों द्वारा लोगों में इस शिक्षा का तथा परस्पर सहयोग के भाव का प्रचार और संचार होना तथा (४) सहयोग-समितियों का उपयोग—विशेष कर व्यापारिक सहयोग-समितियों जो किसानों का माल खरीद कर बेचती रहें। ये चारों साधन किसान-राज में किसानों के लिए सहज ही उपलब्ध हो जायँगे।

देश में खेती की व्यवस्था इस प्रकार भी हो सकती है कि बहुत हद तक देश के विभिन्न प्रदेश अपनी खाद्य और कच्चे माल सम्बन्धी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करलें जिसमें अकालों का भय भी कम होजाय, तथा यातायात के साधनों पर भी अत्य-धिक भार न पड़े। इस उद्देश की पूर्त्ति के लिय व्यापारिक नाजों की खेती, इन आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद ही की जानी चाहिये।

खेती सम्बन्धी खोज के सब काम का प्रबन्ध राष्ट्रीय-सरकार अथवा किसान-सरकार को करना होगा। बहतर बीज, बहतर औजार, चकबन्दी, अधिक फसलों, बहतर खादों, मूत्र, गोबर की खादें, कृत्रिम खादों तथा पाखाने की खाइयों के साधारण प्रयोगों से खेती की काफी उन्नति हो सकती है। भूमि को कटने से बचाना, नदियों में, खारों में तथा ऊसर ज़मीनों में बबूल वगैरः में जंगल जमाना इत्यादि भी आवश्यक होगा।

१९४३ के जंगलात में काम करने वालों की जो कांग्रेस देहरादून में हुई थी उसका कहना था कि हिन्दुस्तान जंगलात की पैदावार के मामले में स्वयं पर्याप्त हो सकता है। जंगलात से बहुत से धन्धे चल सकते हैं, जैसे काग़ज़ का गूदा (Pulp) तरह-तरह के तेल, गोंद, रेसिन, रंग तथा तारपीन टर्पेन्टाइन वग़ैरः। किसानों में सामूहिक और सहयोगिक खेती का प्रचार भी खेती की उन्नति के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है।

खेती की उन्नति के लिए सिंचाई के साधनों का विस्तार भी अत्यन्त आवश्यक है। सिंचाई के अभाव में खेती वर्षा का जुआ मात्र रह जाती है। सन् १९३९-४० में भारत की साढ़े चौबीस करोड़ एकड़ खेती में से सिर्फ़ पचपन करोड़ एकड़ में सिंचाई का प्रबन्ध था। इसमें से २९ करोड़ एकड़ की सिंचाई नहरों से, छः की तालावों से, साढ़े तेरह की कुओं से और साढ़े छः की अन्य साधनों से होती थी।

खेती की उन्नति के लिए ही नहीं पशुओं की उन्नति अपने बल पर राष्ट्रीय आय को बढ़ाने का प्रबल साधन हैं। खेती की फसलों में बीच-बीच में चारे का प्रबन्ध, चरागाहों का प्रबन्ध, वैज्ञानिक साधनों से नस्ल की उन्नति, स्वस्थ साँड़ों का प्रबन्ध तथा मृत पशुओं के चमड़े, सींग, हड्डी आदि का उपयोग पशु-उन्नति के अनिवार्य साधन हैं। गाँवों और शहरों में सहयोग-समितियों द्वारा डेरी खोली जानी चाहिए। पशु-पालन और पशु-उन्नति के सम्बन्ध में भी महात्मा गान्धी के नेतृत्व में सेवा ग्राम स्थित अखिल भारतीय गो-सेवा-संघ ने अद्वितीय काम कर

दिखाया है। उसका कहना है कि पचास गाँवों की डेरी आदर्श तथा आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद डेरी होती है। इन डेरियों के लिये अच्छे साँड़ खरीदना तथा सादी गौ-शालाएँ बनाना आवश्यक है। महात्मा गांधी की राय है कि डेरी में भैंस के बजाय गाय का प्रयोग होना चाहिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से तो गाय का घी-दूध, दही, मट्ठा बहतर होता है। कम खाने और जल्दी ब्याने तथा कम दिन तक सूखी रहने की वजह से कुल मिला कर अन्त में गाय भैंस से महँगी नहीं पड़ती। गाय के बछड़े भैंस के पड़ों से अधिक मूल्यवान भी होते हैं। ऐसी गायें मिल सकती हैं जो भैंस के बराबर दूध देती हैं। हाँ, गाय के दूध में घी कुछ कम निकलता है परन्तु वह भी बढ़ाया जा सकता है।

हमारे देश में हर साल एक करोड़ तीस लाख पशु मरते हैं। इनकी खाल को कमा कर उनसे चप्पल, जूते, सूटकेस वगैरः बहुत सी चीज़ें गाँवों में बनाई जा सकती हैं। मरे पशुओं की खाल जीवित कटे पशुओं की पशुओं की खाल से बहतर होती है। मरे पशुओं के बालों, हड्डियों, सींगों, दाँतों, खुरों इत्यादि से भी तरह-तरह की चीज़ें बनाई जा सकती हैं। इन व्यवसायों से गौ-शालाओं का उद्देश पूरा तथा सफल हो सकता है। गौ तथा अन्य पशुओं का कटना मिट नहीं सके तो घट अवश्य सकता है।

खेती की उन्नत्ति के साथ साथ ही वैज्ञानिक ढङ्ग से हरी तरकारियों की खेती तथा बाग़बानी का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

घरेलू धन्धों की उन्नति का तथा खेती की उन्नति का एक-दूसरे से अधिक सम्बन्ध है। इन धन्धों का तथा खेती के धन्धे का काम साथ-साथ किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। घरेलू धन्धों में कारखाने तथा घरेलू फैक्टरियाँ खेतों से लगी हुई हों तो बहुत अच्छा होगा। इनमें काम करने वालों का स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा तथा देश की राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का समुचित सन्तुलन भी हो जायगा।

देश में ग्रामीण बेकारों, भूमि-हीनों की संख्या बढ़ रही है। मद्रास में १९०१ में पाँच फीसदी बिना खेत के थे। १९२१ में साढ़े सात फीसदी से भी अधिक होगए। १९२१ में हिन्दुस्तान में इन लोगों की तादाद तीन करोड़ तीन लाख थी। इनमें अधिक-तर संख्या हरिजनों और जाटवों-चमारों आदि की है। इन लोगों की आमदनी डा० देसाई के अनुसार ढाई रुपये माहवार है, पञ्जाब में पाँच रुपये माहवार। पञ्जाब की कैनैल कौलोनीज़ में दस रुपये माहवार। इनसे बेगार भी ली जाती है। इस प्रकार इनकी समस्या केवल आर्थिक ही नहीं, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक भी है। इनके लिए चौमुखी क्रान्ति तथा चौमुखी स्वाधीनता की शीघ्र से शीघ्र आवश्यकता है।

इनकी आर्थिक दुर्दशा को दूर करके इनकी समस्त जीवना-वश्यकताओं को पूरा करने के लिए घरेलू धन्धे अचूक और अमोघ उपाय हैं। घरेलू धन्धों की आवश्यकता को सोवियत रूस ने भी अपनी पञ्च-वर्षीय योजना में स्वीकार किया था।

हमारे देश के ग्राम-अर्थशास्त्र के सभी आचार्य इस बात से

मुहम्मत हैं कि किसानों का खेती का काम औसतन साल में आठ महीने से अधिक नहीं होता। इन आठ महीनों में भी हमेशा नहीं होता, इसलिए देश के तीस करोड़ के ग़रीब किसानों की बेकारी को दूर करने के लिए घरेलू सहायक धन्धे अनिवार्यतः आवश्यक हैं। अब तक देश के किसान कताई, बुनाई, पिसाई, चावल कुटाई, टोकरी बुनाई, रेशम का काम वग़ैरः करते हैं। इन सब में कताई सबसे ऊपर है। कहीं-कहीं किसानों की बहू-बेटियाँ बुनाई भी कर लेती हैं। कतकड़ों की औसत आमदनी आठ घण्टे की कताई पर दो आने से लेकर छः आने तक है। औसत छः रुपये माहवार। यानी कताई का धन्धा कताई-योजना की फी व्यक्ति सालाना आमदनी के राष्ट्रीय आदर्श को पूरा करता है! फिर भी इस देश में ऐसे समझदारों की कमी नहीं जो चरखे की उपयोगिता को कोसते-कोसते नहीं अघाते।

इन बेचारों को यह क्या मालूम कि हिन्दुस्तान के लिए जितने कपड़े की आवश्यकता है उसका आधा कपड़ा आज भी करघों से ही तैयार होता है और करघे के रुज़गार से पचास लाख का गुज़ारा होता है। देश में पिछले बीस साल में करघे व्यवसाय में तिगुनी वृद्धि हुई है। चरखे-करघे के विरोधियों को यह क्या मालूम कि आज भी खेती के बाद देश में सबसे बड़ा तथा सबसे अधिक फैला हुआ धन्धा करघों द्वारा कपड़ों की बुनाई का ही धन्धा है।

गुलज़ारीलाल नन्दा के कहने के मुताबिक हिन्दुस्तानी मिलें हर साल पचास करोड़ का कपड़ा तैयार करती हैं। इनमें से सिर्फ़

दस करोड़ रुपया मजदूरों को मिलता है लेकिन अगर इतना ही कपड़ा खादी का हाथ का कता-बुना हो तो उसमें से पैंतीस करोड़ मजदूरों को मिलेगा। जितने कपास से मिलें पचास करोड़ रुपये का कपड़ा तैयार करती हैं उतने से खादी बुनाई जाय तो सौ करोड़ में बिकेगी और इसमें सत्तर करोड़ मजदूरों की जेब में जायगा। कपड़े की कीमत पचास करोड़ जरूर बढ़ गई लेकिन ग़रीबों को, मजदूरों को साठ करोड़ रुपया ज्यादा मिल गया। इस प्रकार सब तरह से खादी मिल के कपड़े से सस्ती पड़ी। फिर भी मजदूरों के हिमायती चरखे-करघे का, खादी का विरोध करते हैं।

बम्बई के उद्योग धन्धों के डाइरेक्टर आर० डी० बैल ने यह बात मानी है कि हाथ-करघे का धन्धा सीधे तौर पर मिलके कपड़े से प्रतिस्पर्धा नहीं करता। यानी मिल के कपड़े के अलावा इसकी अपनी निश्चित जगह है।

देश के अर्थशास्त्र के आचार्य वाडिया और मर्चेंट ने अपनी Our Economic Problem में ४६२ वें पृष्ठ पर लिखा है कि अखिल भारतीय चरखा-सङ्घ की सफलता ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे देश में न सिर्फ चरखे को बल्कि हाथ करघे के लिए भी निश्चित और सुरक्षित स्थान है।

इस महायुद्ध में खद्दर की माँग और भी बढ़ी और लोगों ने यह भी देखा कि खद्दर की कीमत उतनी नहीं बढ़ी जितनी मिल के कपड़ों की। बिजली द्वारा जुलाहे काम लेने लगे तो करघों का रोजगार और भी चेत गया। उसका भविष्य सुन्दर है।

महात्मा गान्धी यह ठीक ही कहते हैं कि चरखा राष्ट्र का, किसानों का दूसरा फेंफड़ा है। इङ्गलैण्ड के जगत-प्रसिद्ध उद्भट समाजवादी विद्वान् जी० डी० एम० कोल ने भी यह माना है कि खद्दर के लिए महात्मा गान्धी का उद्योग हिन्दुस्तान के किसानों की गरीबी को दूर करने का व्यावहारिक उद्योग है।

इसके अतिरिक्त चरखा और खद्दर केवल आर्थिक उपाय ही नहीं है, वह मानव-जीवन की अन्य सभी बातों का, मानव या मानवता का, मानव-सभ्यता और मानव की स्मृति का तथा मानव-सुख स्वाधीनता के सामजस्य का सुन्दर तथा सफल प्रयत्न है।

प्राचीन-काल में खादी ने चमत्कारिक उन्नति की आज से चार हजार बरस पहले मिस्र की जो रक्षित लाशें बड़े-बड़े पिरेमिटों में गढ़ गई थीं उन्हें भारत की मलमल का सुन्दर कफन उढ़ाया गया था। वह आज भी वैसा ही चिकना बना हुआ है जैसा चार हजार बरस पहले था। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में कताई-बुनाई के व्यवसाय की, चरखा और खादी की बार-बार चर्चा की है। भारत का हाथ का कता-बुना रेशम पहन कर हजारों बरस पहले रोम-साम्राज्य की सुन्दरियाँ कृतकृत्य हो जाती थीं। हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के आने से पहले हाथ की कताई-बुनाई का व्यवसाय देश-व्यापी था। करघों द्वारा मिल के सूत की बुनाई का व्यवसाय अब तक जारी है।

अखिल भारतवर्षीय चरखा सङ्घ की १९४० की रिपोर्ट का कहना है कि उस साल संघ ने साढ़े निन्नानवे लाख वर्ग गज

खादी तैयार की। इसकी तैयारी में १३४५० गाँवों में दो लाख पिचहत्तर हज़ार कतक्कड़-बुनक्कड़ों ने काम किया, और चौंतीस लाख से ऊपर मज़दूरी के मिले।

चरखे-खद्दर के जरिये किसानों की कपड़े की समस्या सहज ही हल हो सकती है। यदि एक गाँव की औसत आबादी पाँच सौ मान ली जाय और फी व्यक्ति तीस गज कपड़ा जरूरी माना जाय तो पन्द्रह हजार वर्ग गज कपड़ा चाहिये। यह साठ हजार गुण्डियों बनेगा। एक मामूली कतक्कड़ १६ काउण्ट की एक गुण्डी तीन घण्टे में मजे में औसतन कात सकता है। कुल गाँव को अठारह हजार घन्टे कातना पड़ेगा। पाँच सौ की आबादी में से एक चौथाई बच्चे वगैरः निकाल दिये जायं तो बाकी ३७५ स्त्री पुरुषों को साल में ४८० घन्टे कातना होगा यानी डेढ़ घण्टा प्रति दिन! इतना समय गाँव की स्त्रियाँ ही सहज में निकाल सकती हैं। इस तरह गाँव की कपड़े की आवश्यकता पूरी हो गई इसके अलावा बेसिक स्कूलों के बच्चों और औरतों से दो घण्टे कताया जाय तो उस कताई की बचत से देश के समस्त शहरों की कपड़े की भी आवश्यकता पूरी हो सकती है। शहरों में मध्य वर्गीय लोगों की बेकार स्त्रियाँ भी सानन्द चरखा कात कर सम्मान के साथ अपना पेट पाल सकती हैं।

कागज बनाने के रोजगार का स्थान, घर, भोजन-वस्त्र के बाद आज-कल की दुनियाँ में चौथा स्थान है। कागज घूरों, पर पड़े हुए कपड़ों के चिथड़ों, सैलोलाइट के खिलौनों से, नील के रेशे से जूट की फेंकन से,

चावल के भुसे से, बाँस, केले के खंभों, ईख के पत्तोंइ और कागजों के कुटे टुकड़ों तथा घास से बनाया जा सकता है।

कोल्हू से तेल पेरने का धन्धा भी अच्छा घरेलू धन्धा है। स्वास्थ्य की दृष्टि से कोल्हू का तेल मिलों के तेल से अधिक पवित्र रहता है। इसमें विटैमिन अधिक होती है। यह बात वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है। हाँ, मिलों का तेल कोल्हू के तेल से सस्ता जरूर है। परन्तु अब तक मिलें कोल्हू के तेल के व्यवसाय को नष्ट नहीं कर सकीं। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में ग्रामोद्योग-संघ ने मगन-दीप—एक तरह की लालटैन का आविष्कार किया है जिसमें तिली या तीसी का तेल जलाया जा सकता है।

धान कूटने का काम भी अच्छा और स्वस्थ ग्रामोद्योग है। मिलों के कुटे चावल में से उसका खाद्य-मूल्य काफी कम हो जाता है। यह बात स्वयं भारत सरकार की सन् अट्ठाईस की स्वास्थ्य बुलेटिन ने स्वीकार की है।

ईख, खजूर, ताड़ी इत्यादि से गुड़ बनाना, मधु मक्खी पालना, लकड़ी का-बढ़ई का काम, लुहारी, सुनारी का काम दियासलाई बनाने का, मिट्टी के बर्तन बनाने, खिलौनों का चाकू, कैंची बनाने का, बाँस और बेंत की चीजें बनाने तथा रस्सी वगैरः बनाने, ईंटें, टाइलें इत्यादि तथा काँच और चूड़ियों का काम घरेलू धन्धों से अच्छी तरह हो सकता है।

अब तो बिजली के बल पर चलने वाली छोटी-छोटी मशीनों

द्वारा कसबों और गाँवों में बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के वितरण और विकेन्द्रीकरण की ओर भी संसार के विचारशील अर्थ शास्त्रियों तथा समाज-शास्त्रियों का ध्यान जाने लगा है। इस महायुद्ध के कारण लोग घरेलू-धन्धों के महत्त्व को समझने लगे हैं। चीन की औद्योगिक सहयोग-समितियों ने इस दिशा में आदर्श और आश्चर्य-जनक उन्नति कर दिखाई है। यदि चीन ने इस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग न किया होता तो जापानी सेना और जापानी हवाई जहाजों ने चीन के समस्त विरोध की रीढ़ कभी की तोड़ दी होती। राष्ट्रीय स्वास्थ्य आर्थिक लोकतन्त्र हवाई जहाजों से बचाव तथा अन्य सामाजिक सिद्धान्तों से प्रेरित होकर अनेक अर्वाचीन प्रगतिशील समाज-शास्त्री घरेलू-धन्धों की, बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता प्रतिपादन करने लगे हैं।

किसान-राज में ग्रामों के घरेलू धन्धों का पुनरुज्जीवन मुख्य कार्य-क्रम होगा। गाँवों के कारीगरों की मदद के लिए उन्हें कच्चा माल खरीदने और बने माल के रखने-रोकने के वास्ते सहयोग समितियों द्वारा सस्ते ऋणों का प्रबन्ध करना होगा. बेसिक पाठशालाओं तथा बयस्कों की कक्षाओं में उपयुक्त कला-कौशल की शिक्षा देनी होगी, घरेलू उद्योग-धन्धों के क्षेत्र के विस्तार तथा उनमें काम आने वाली मशीनों को उन्नत करने के लिए खोज का काम करना होगा तथा खोज के सफल प्रयोग किसानों को बताने होंगे। जो कच्चा माल गाँव में न मिले उसकी सामूहिक खरीद का प्रबन्ध करना होगा। गाँवों में अच्छी कीमत पर घरेलू

धन्धों के बने हुए माल की खपत के लिए बाजारों की सहयोग समितियों को सहायता करनी होगी। बड़े पैमाने के कारखानों में बनने वाले माल की प्रतिस्पर्धा से घरेलू धन्धों को बचाना होगा, उनके लिये रेलों तथा जहाजों के किराये में रियायत करनी होगी, जरूरत हो तो बड़े-बड़े कारखानों पर टैक्स लगाकर छोटे-छोटे घरेलू-धन्धों को सहायता देनी होगी। इन घरेलू धन्धों की वृद्धि और सफलता में ही किसान राज और किसानों की सम्पन्नता का सारा रहस्य छिपा हुआ है।

गाँवों के किसानों के लिए आवागमन के मार्गों की, रेलों, सड़कों, नदियों, समुद्र-तट के जहाजों, हवाई जहाजों, डाकखानों और तारघरों की सुविधा का भी पूरा-पूरा प्रबन्ध होना चाहिये। देहातों में ज्ञान, शिक्षा और संस्कृति के साधन सस्ते-पत्रों का पहुंचना सम्भव करने के लिए पाई पोष्टेज चलाना होगा। हिन्दुस्तान में वहाँ के क्षेत्रफल के अनुपात से रेलें कम हैं। जो हैं वह किसी व्यवस्था के अनुसार नहीं चलाई गई। गाँवों और किसानों के हितों तथा उनकी आवश्यकताओं पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इन रेलों का मुख्य उद्देश्य हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन को सुरक्षित रखना तथा गाँवों का कच्चा माल खरीद कर और वहाँ अपना तैयार माल बेच कर ब्रिटिश व्यापार को बढ़ाना, भारत की सम्पत्ति को ब्रिटेन में ले जाना रहा है। इसी उद्देश्य से इन रेलों के किराये भाड़े की दरें भी पक्षपातपूर्ण हैं। किसान-राज में देश के कुछ हिस्सों में रेलें बढ़ानी पड़ेंगी। राष्ट्रीय-सरकार ऐसी विदेशी पूँजीपतियों के स्वार्थों की अवहेलना

करके किसानों के हित में रेलों और उनकी किराये-भाड़े की नीति का नियन्त्रण करेगी। किसान-राज में रेलों का मुख्य उद्देश्य किसानों के घरेलू धन्धों की सहायता करना, उनके लिए सस्ते कच्चे माल का प्रबन्ध करना तथा उनके इन धन्धों के अतिरिक्त पैदावार को बेचना होगा। सड़कों की वर्त्तमान अवस्था नहीं रहेगी, जिसमें तीस फीसदी पक्की सड़कें और रेलें एक-दूसरे के समानान्तर चलती हैं। सड़कों के बनाने में गाँवों की सुविधा और आवश्यकता पर पूरा पूरा ध्यान दिया जायगा। ये सड़कें गाँवों के किसानों और कारीगरों के हित में बनाई जायँगी जिससे उन्हें अपनी बचत बेचने और जरूरत की चीजें खरीद लाने की सहूलियत हो। बैलगाड़ियों की रक्षा के लिए कच्ची सड़कों का पूरा पूरा प्रबन्ध होगा। सब बड़े गाँवों में सड़कें होंगी। एक हजार की आबादी का कोई भी गाँव सड़क से एक मील से ज्यादा दूर न होगा। भारत के सोलह लाख बीस हजार वर्ग मील रकबे में सिर्फ ४१००० मील रेलें हैं। कम से कम इसकी चौथाई यानी दस हजार ढाई सौ मील और बढ़ानी होंगी। सड़कें इस समय सिर्फ तीन लाख मील हैं। पिचहत्तर हजार मील पक्की और सवा दो लाख मील कच्ची। तीन लाख मील सड़कें और बनानी होंगी। नदियों द्वारा माल भेजने मँगाने के साधन की पूरी-पूरी सुविधा की जायगी। रेलों के भाड़े की दरों को नदियों व नहरों की दरों से प्रतिस्पर्धा न करने दी जायगी। भारत के समुद्री तट के जहाजों के व्यापार में विदेशी प्रतिस्पर्धा को बन्द करना होगा और भारतीय कम्पनियों के

जहाजों को किसान-राज अपने हाथ में ले लेगा। आवागमन के सब साधन, व्यापारी जहाज, व्यापारी हवाई जहाज इत्यादि सब राष्ट्रीय-सरकार के हाथ में होंगे।

किसान-राज में लोगों के उपयोग की सब वस्तुएँ घरेलू उद्योग-धन्धों द्वारा तैयार होंगी। विदेशी आक्रमण से स्वदेश की रक्षा करने के लिए शस्त्रास्त्र बनाने का उद्योग पूर्णतया किसान-सरकार के हाथ में होगा। इसी तरह अन्य सब आधार-भूत तथा कुञ्जीवत धन्धे, वैयक्तिक न होकर राष्ट्रीय किसान-सरकार के अधीन होंगे। बिजली का उपयोग इन धन्धों के अलावा खेती और घरेलू धन्धों में भी किया जायगा। आधार-भूत और कुञ्जीवत् धन्धे किसान-सरकार द्वारा ही चलाये जायँगे वही उनकी मालिक होगी। किसान-राज में देशी-विदेशी पूँजीपतियों द्वारा सब प्रकार के शोषण का अन्त कर दिया जायगा। अब तक ऐसे जितने धन्धे व्यक्तिगत पूँजीपतियों के हाथ में हैं उन सब को किसान-सरकार के हाथ में लेने में जितना रुपया लगेगा उतने संक्रांति काल में उन पर किसान-सरकार का घरेलू उद्योग-धन्धों और मजदूरों के हित में नियन्त्रण रहेगा। ऐसे वैयक्तिक धन्धों की वृद्धि किसान-सरकार में नहीं होने पायगी। ऐसी सब विदेशी फैक्टरियाँ किसान-राज द्वारा अपने हाथ में ले ली जायँगी। संक्रान्ति काल में लोगों की उपयोग की कुछ वस्तुएं बड़े पैमाने पर बड़े कारखानों में बनती रहेंगी जैसे सूती कपड़ा, तेल, शक्कर, कागज, चावल की मिलें लेकिन ये किसानों के घरेलू धन्धों से प्रतिस्पर्धा नहीं करने पावेंगी और जब ये घरेलू

धन्धे इन सब चीजों को खुद तैयार करने लगेंगे तब इनके बड़े कारखाने बन्द कर दिये जायँगे।

लोकोपयोगी धन्धे जैसे यातायात और आवागमन के मार्ग सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, शिक्षा, बैङ्क, बीमा, अन्न-संग्रह या कोष का काम सरकार के हाथ में रहेगा। किसान-सरकार किसानों को अकालों, बाढ़ों, सूखा, पाले, खेती व पशुओं की बीमारियों इत्यादि से बचाने के लिए बीमे का पूरा-पूरा प्रबन्ध करेगी जैसा कि यूरुप के कई देशों में है। यहाँ किसान जिंस में बीमे की किश्त दे सकेंगे।

देश के आन्तरिक व्यापार को इस प्रकार व्यवस्थित किया जायगा जिससे कुल आबादी की अधिक से अधिक संख्या में अपने उपभोग की लगभग सभी वस्तुएँ अपने यहाँ ही मिलें। बीच के लोगों द्वारा शोषण का अन्त कर दिया जायगा। कीमतों पर पूरा नियन्त्रण रहेगा, वे स्थिर रहेंगी तथा यातायात के मार्गों पर कम से कम भार पड़ेगा। साधारणतः सात मील के रकबे के भीतर के सब गाँव मिल कर स्वयं पर्याप्त होने चाहिये, विशेष कर भोजन, वस्त्र और मकानादि सम्बन्धी आवश्यकताओं में।

किसान-राज में भाषा और आर्थिक रूप में पर्याप्तता की दृष्टि से प्रान्तों का विभाजन भी करना पड़ेगा। वैयक्तिक व्यापार की इजाज़त रहेगी। परन्तु उसकी कीमतों का, मुनाफे की दर आदि का नियन्त्रण किसान-सरकार किसानों के हित में, जनता के हित में करेगी।

किसान-राज की इस आर्थिक योजना में वितरण की समस्या

भी स्वतः ही हल हो जायगी। राष्ट्रीय आय का वितरण, समान काम, समान दाम के सिद्धान्त पर होगा। इस योजना के अनुसार वितरण के इस सिद्धान्त पर व्यवहार अपने आप होता रहेगा। किराया लेने वाला वर्ग लुप्त हो जायगा। व्याज मुनाफे वगैरः की आर्थिक बुराइयाँ मिट जायँगी।

१६४१ की जन-गणना के अनुसार भारत में सौ पीछे सत्तासी आदमी गाँवों में और केवल तेरह फीसदी शहरों में रहते हैं। भारत भर में कुल चालीस शहर ऐसे हैं जिन की आबादी एक लाख से अधिक हैं। किसान-राज में धन्धों के विकेन्द्रीकरण तथा गाँवों के सुन्दर और सुखमय होने के कारण शहरों की आबादी और भी कम हो जायगी।

जो शहर हैं और रहेंगे उनको सुन्दर सुखमय तथा स्वास्थ्यप्रद बनाया जायगा। लोगों के उपभोग की वस्तुएँ मुख्यतः गाँवों में ही बनेंगी, शहरों में नहीं। शहरों के उद्योग-धन्धे गाँवों के घरेलू उद्योग-धन्धों के पूरक तथा सहायक होंगे। शहर गाँवों की पैदावार की बिक्री के बाजार होंगे। शहरों के जीवन की आवश्यक वस्तुएँ अड़ौस-पड़ौस के गाँवों में बनेंगी। मतलब यह कि आन्तरिक व्यापार मुख्यतः देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों की बचत की वस्तुओं के विनिमय का व्यापार रह जायगा जिसमें विनिमय करने वालों को परस्पर लाभ हो। ऐसी कुछ मशीनें, दवाएँ, शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी इत्यादि जो देश में नहीं बन सकेंगी, विदेशों से मँगाई जायँगी। जिन चीजों की किसी प्रदेश में कमी होगी और उन चीजों की वास्तव में जरूरत होगी तो बाहर से

मँगाई जायँगी। आन्तरिक व्यापार का नियन्त्रण गाँवों के हाथ में तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण राष्ट्रीय किसान-सरकार के हाथों में होगा।

खेतों में, घरेलू धन्धों में, आधार-भूत तथा कुञ्जीवत् धन्धों में, बड़े-बड़े कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के, सभी मजदूरों के हितों और अधिकारों की पूरी-पूरी रक्षा की जायगी। किसान-राज में कानून द्वारा मजदूरों के लिए जीवन-धारण के लिए Living wage आवश्यक मजूरी की, काम करने की स्वस्थ अवस्थाओं की, काम के घण्टों की सीमा की, मजदूरों और कार-खाने वालों के झगड़ों में निपटारे के लिए उपयुक्त व्यवस्था की, बुढ़ापे, बीमारी, दुर्घटना, बेकारी आदि से मज़दूरों की रक्षा की, मज़दूरों के लिए सब तरह के बीमे की तथा उनके मौलिक अधि-कारों की पूरी पूरी गारण्टी होगी।

कर, राजस्व, प्रचलन और विनिमय का नियन्त्रण किसान-राज में इस प्रकार होगा जिससे ग़रीबों पर तथा उनके धन्धों पर कम से कम भार पड़े और आर्थिक विषमता दिन पर दिन दूर हो। किसान-राज द्वारा निर्धारित न्यूनतम आमदनी करों से बरी होगी। उससे आगे जैसे जैसे आमदनी बढ़ती जायगी करों की दर भी बढ़ती जायगी। प्रचलन और विनिमय का नियन्त्रण किसानों के, उनके धन्धों के तथा समाज राष्ट्र के हित में होगा। नमक-कर रद्द कर दिया जायगा। चिकित्सा के लिए छोड़ कर शराबों की बिक्री बन्द कर दी जायगी। नियत न्यूनतम जायदाद से ऊपर की जायदादों पर मौत टैक्स तथा विरासत टैक्स

लगेगा। नियत उचित न्यूनतम जमींदारी व जमीन की आमदनी से ऊपर कृषि-आय-कर लगेगा। खास तौर पर रक्खे गये विशेषज्ञों आदि को छोड़ कर किसी भी राज-कर्मचारी को पाँचसौ रुपये माहवार से अधिक वेतन नहीं मिलेगा। आजकल प्रचलन-प्रणाली इतनी जटिल और धूर्त्ततापूर्ण है कि बैङ्क आफ इङ्गलैंड के गवर्नर तक को यह कहना पड़ा कि यह मेरी समझ में नहीं आती। उसका नियन्त्रण इस प्रकार किया जायगा जिससे वह अधिक से अधिक सरल होजाय तथा चालाक सटोरियों के हाथ का खिलौना न रहे। गाँव के करीगरों, अध्यापकों, डाक्टरों तथा उच्च अफसरों का वेतन जिस में दिया जायगा जैसा गाँवों में पंडितों, पुजारियों, फकीरों, कारीगरों इत्यादि के लिए हजारों बरस से होता आया है और अब तक होता है। प्रचलन के सम्बन्ध में गोपुरी (वर्धा) में सूत का सिक्का चलाने का प्रयोग शिक्षाप्रद और मनोरञ्जक है।

हमारे देश में आबादी की समस्या अभी उतनी उग्र नहीं है जितनी यहाँ के शासक, राजनैतिक और कूटनैतिक कारणों से बताते हैं। देश के साधन इतने अधिक हैं कि वर्त्तमान साधनों के पूर्ण उपयोग से वह इस समय की दुगुनी आबादी तक का भरण-पोषण सानन्द किया जा सकता है। हाँ, फिर भी स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से तथा वैयक्तिक और पारिवारिक दृष्टियों से सन्तान-निग्रह का प्रश्न तो है ही। उसका सर्वोत्तम उपाय संयम और ब्रह्मचर्य है। अपवाद-स्वरूप, आपत्ति। धर्म समझ कर विशेष अवस्थाओं में सन्तान

निग्रह के कृत्रिम परन्तु कारगर पाश्चात्य साधनों से काम लेना भी क्षम्य हो सकता है। आदर्श पर पूरा जोर देते हुए भी कठिन मामलों में व्यवहार के लिए अपवाद आवश्यक होंगे।

अब हमें इस किसानों की योजना के बजट को देखना चाहिये। प्रो० के० टी० शाह ने अपनी "प्लैनिङ्ग के सिद्धान्त" नामक पुस्तक में लिखा है कि यदि ज़मीदारों से उनकी जमीन से सालाना लगान का दस गुना हर्जा देकर किसानों को बाँट दी जाय तो दो अरब रुपये की आवश्यकता होगी। परन्तु चूँकि हमारी योजना में जमीन के मालिक किसान होंगे, सरकार नहीं, इसलिए सरकार इस रकम के सालाना बौण्ड जमींदारों के नाम जारी करदे और उसे बीस साल में किसानों से वसूल करले जो फी फसल चालीस किश्तों में किसानों को यह रुपया पाँच करोड़ साल के हिसाब से देना होगा। जिसे वे बहुत ही आसानी व खुशी से दे सकते हैं।

खेती की उन्नति के सम्बन्ध में सरकार से बीस रुपया फी एकड़ के हिसाब से एकसौ सत्तर पड़ती जमीन को जोत योग्य बनाने में साढ़े तीन अरब खर्च करने होंगे और एक अरब भूमि की कटती को रोकने में दोनों में ५-५ करोड़ साल का खर्च स्थायी होगा। सिंचाई की सुविधा को दुगुना करने के लिए डेढ़ अरब तथा कुओं के प्रबन्ध के लिए २५ करोड़ रुपयों की जरूरत होगी। स्थायी सालाना खर्च पाँच करोड़। पाँच साल में पचास करोड़, प्रयोग और खोज के आदर्श कार्यों में खर्च होगा। इस तरह हर गाँव में खेती की उन्नति के लिए पचीस करोड़ साल

स्थायी खर्च होगा और चार हजार के हिसाब से ढाई अरब एक मुश्त खर्च की आवश्यकता होगी। इस प्रबन्ध से खेती की पैदावार पाँच साल में तीन गुनी हो जायगी। इस हिसाब से खेती की उन्नति सम्बन्धी कुल खर्च एकमुश्त नौ अरब पचीस करोड़ होगा। सालाना स्थायी चालीस करोड़। खेती की उन्नति के लिए फी गाँव चार हजार के हिसाब से जो ढाई अरब खर्च कूता गया है वह किसानों से बीस साल में दो सौ रुपये फी गाँव के हिसाब से फी साल वसूल हो सकता है। बचा कुल पौने सात अरब एक मुश्त तथा चालीस करोड़ स्थायी सालाना। यह भी उत्पादक खर्च होगा। ग्राम-उद्योगों घरेलू धन्धों की उन्नति के लिए नीचे लिखा खर्च चाहिए—

स्थायी सालाना	एक मुश्त
बाजार की सुविधा के लिए	३५० करोड़ रुपया
सस्ता कर्जा पाँच हजार फी गाँव में पंचायतों या सहयोग-समितियों को बीस साल में वापस	

आधार-भूत और कुञ्जीवत् तथा अन्य आधार-भूत धन्धों में ७५० करोड़ रुपया लगा हुआ है। ३५० विदेशियों का, बाकी देशी ४४० में से दोसौ आधार-भूत धन्धों में। किसान-सरकार इन सब को पाँच बरस में खरीदेगी। इसके लिए ५०० करोड़ रुपये की एकमुश्त जरूरत होगी। ५०० करोड़ आधारभूत तथा

रक्षा सम्बन्धी धन्धों की उन्नति में खर्च होंगे। कुल एक हजार करोड़ चाहिये।

दस हजार मील के करीब रेलें बढ़ाने में२०० करोड़ एकमुश्त तथा पाँच करोड़ सालाना स्थायी चाहिये। तीन लाख मील सड़कें बनाने को सौ करोड़ रुपया काफी होगा। सवा तीन हजार रुपया फी मील के हिसाब से। इनका स्थायी सालाना खर्च पाँच करोड़ होगा। मौजूदा जहाजी सुविधाओं के बढ़ाने में पच्चीस करोड़ तथा पाँच साल में व्यापारिक जहाजों का प्रबन्ध करने में ५० करोड़। दोनों का स्थायी खर्च। मुल्की हवाई जहाजों की व्यवस्थादि में कुल चारसौ करोड़ एक मुश्त तथा पच्चीस करोड़ सालाना स्थायी चाहिये। सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए गाँवों में प्रारम्भिक चिकित्सक, नर्स-दाई आदि के प्रबन्ध के लिए ३५ करोड़ चाहिये। इमारत गाँवों में ही मन्दिरादि में मिल जायँगी। शहरों में हर दस हजार व्यक्तियों के लिए एक अस्पताल के हिसाब से ५००० अस्पताल चाहिए। तीन हजार और बनाने होंगे। इन अस्पतालों की इमारतों में चालीस खाटों तथा जच्चाख़ानों का स्थान हो तो ५०००० रुपये फी अस्पताल खर्च होगा कुल पन्द्रह करोड़। ५ करोड़ सालाना स्थायी खर्च होगा। तपेदिक, कोढ़, Cancer नासूर, योनि सम्बन्धी तथा मानसिक बीमारियों के अस्पतालों के लिए दस करोड़ और चाहिये। सफाई, पानी आदि के लिए पैंतीस करोड़, एक हजार फी गाँव के हिसाब से। इनकी मरम्मत का खर्च पञ्चायतें करेंगी। शहरों में पीने के पानी का

प्रबन्ध करने के लिए २५ करोड़ चाहिये यानी कुल एकसौ पचीस करोड़ एक मुश्त, तथा स्थायी सालाना ४० करोड़।

किसान-राज में शिक्षा के लिए सातों साल तक पूरी बेसिक शिक्षा का एक स्कूल हर दो मील के अन्दर होना चाहिये। इनकी इमारतें मन्दिर-मस्जिद के साथ बन सकती हैं। एक हजार रुपए में! इसका आधा गाँव वाले मजदूरी के और जिंस के रूप में खुशी से दे देंगे। अतः इस मद में कुल खर्च सिर्फ तेतीस करोड़ होगा। शहरों में चौदह करोड़ इमारतों में खर्च होगा। इन स्कूलों की प्रारम्भिक आवश्यकताओं के लिए बीस करोड़ चाहिए। कुल खर्चा इमारतों का सरसठ करोड़ हुआ। हिन्दुस्तानी तालीमी सङ्घ सेवा-ग्राम का अनुभव है कि इन पाठशालाओं में बने माल से इनके शिक्षकों का दो तिहाई वेतन निकल आता है। एक तिहाई की पूर्ति सीधे आदि से बहुत आसानी से हो सकती है। शहरों में एक तिहाई म्यूनि-स्पैल्टियाँ देंगीं। फिर भी प्रारम्भिक सहायता के लिए तेरह करोड़ रुपया रख लिया गया है।

सैकिन्डरी शिक्षा में पचीस करोड़ इमारतों को, पचीस करोड़ प्रारम्भिक सामान को। इनका स्थायी सालाना खर्च बीस करोड़, वयस्क-शिक्षा के लिए चार रुपए प्रति वयस्क के हिसाब से पौने सत्रह करोड़, निरक्षर वयस्कों की शिक्षा में सत्तर करोड़ होगा। इस सम्बन्ध में बच्चों से ही अपने मा-बापों को शिक्षित करने में सहायता ली जा सकती है जैसा कि चीन में किया गया।

सुयोग्य कार्यकर्त्ताओं की सेना की शिक्षा के लिए पिचहत्तर करोड़ एक मुश्त तथा पचास करोड़ स्थायी सालाना चाहिये। इस प्रकार शिक्षा सम्बन्धी कुल खर्च एक मुश्त २५ करोड़—स्थायी सालना सौ करोड़।

खोज के काम के लिए बीस करोड़ की आवश्यकता होगी। कृषि-कर्त्ताओं की शिक्षा के लिए कला-कौशल सम्बन्धी शिक्षा विषयक खोज में काफी काम करना होगा।

इन सब मदों का सब खर्च मिला कर एक मुश्त तीन हजार पचपन करोड़ तथा स्थायी दो अरब सालना होगा।

यह खर्च केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में बँटेगा। इस खर्च का काफी हिस्सा उत्पादक है। कुछ तो किश्तों में वसूल होगा, कुछ आमदनी की वृद्धि के रूप में। अर्थात् हर हालत में यह खर्च वाञ्छनीय और सम्भव है।

इसके लिए एक हजार करोड़ देश की वर्त्तमान संचित सम्पत्ति और लोगों की बचत से लिया जा सकता है। दो हजार करोड़ सरकारी कर्जे के तौर पर इकट्ठा किया जा सकता है। एक हजार करोड़ सरकार की भिन्न भिन्न सैक्यूरिटीज की साख पर नया रुपया उत्पन्न करके। बाकी इनकम टैक्स, सुपर टैक्स कृषि आमदनी टैक्स तथा जायदादों की बिक्री और मौत तथा विरासत कर आदि से बहुत सरलता पूर्वक। इस प्रकार इस योजना का बजट व्यावहारिक और स्वयं पर्याप्त है। उसके लिए हमें बम्बई योजना की तरह स्टर्लिङ्ग बैलैंसों का भी मुँह नहीं देखना होगा।

जो धन्धे सरकारी हाथ में रहेंगे उनमें लोकोपयोगी धन्धों से यातायात, सिंचाई इत्यादि से सरकार की आमदनी इतनी बढ़ जायगी कि वह स्थायी सालाना खर्च को सुगमता से चला सकेगी। सरकारी दान-संस्थाओं, धार्मिक-संस्थाओं, धर्मादे आदि का भी पूरा उपयोग कर सकते हैं।

सफल योजना ग्राम पंचायतों की अचल शिला पर टिकी हुई है। पंचायतों को अपने गाँव व गाँव के हित के लिए टैक्स लगाने का, लोगों के लिए ग्राम कार्य में मजदूरी, रुपया या जिंस के रूप में टैक्स लगाने का पूरा हक होगा। प्राचीन काल में गाँवों के पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ तक गाँवों में तालाब, सड़क, बाग-बगीचे आदि मिल कर बनाने में सहयोग देती थीं। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में तथा बौद्ध कालीन भारत के इतिहास में इन बातों का बहुत ही सुन्दर और प्रामाणिक वर्णन मिलता है। केवल इस सुप्त परम्परा को और सुषुप्त शक्ति को जगाने की जरूरत है। पञ्चायत फी हल फी फसल पाँच सेर चन्दा लगा दे तो वह मालामाल हो जाय और जो गाँववाले फकीरों वगैरः को इतना दे देते हैं वे पञ्चायत को बड़ी खुशी से देंगे। पण्डित, पुजारी, फकीरादि का निकालना रखना पूर्णतया पंचायतों के हाथ में होना चाहिए। सजा के रूप में भी पंचायतें जिंस और मजदूरी गाँव भर के हित के लिए ले सकती हैं। विवाहादि उत्सवों पर पंचायतें दान ले सकती हैं। तात्पर्य यह कि पंचायतों के पास ग्राम-हितकारी कामों के लिए वैसे भी साधनों की कमी नहीं रहेगी।

ये ग्राम पञ्चायतें ग्राम के समस्त बालिगों की वोट से चुनी जायँगी। इन्हें ग्राम के नागरिक, आर्थिक, शासन, न्याय और व्यवस्था सम्बन्धी सभी अधिकार प्राप्त होंगे। प्रत्येक सौ गाँव पीछे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का एक मेम्बर चुना जायगा। सौओं गाँवों के चुने हुए पञ्च मेम्बर चुनेंगे। बोर्ड के चेयरमैन का चुनाव जिले भर के बालिगों की वोट से होगा। बोर्ड में नीति-निर्धारण, व्यवस्था और राजस्व सम्बन्धी सब अधिकार बोर्ड को होंगे। परन्तु कार्यकारक सब अधिकार चेयरमैन को। अर्थात् शासन में वह स्वतन्त्र रहेगा। बोर्ड के कुल मेम्बरों में से आधे से अधिक चेयरमैन के विरुद्ध शिकायत का प्रस्ताव करें तो प्रान्तीय सरकार उस शिकायत की जाँच करेगी। शिकायत सही निकलने पर उचित कार्यवाही करेगी। एक एक महीने के अन्तर से अविश्वास का प्रस्ताव दो बार पास होने पर प्रान्तीय सरकार को चेयरमैन को हटाने का अधिकार होगा। चेयरमैन चाहे तो प्रान्तीय सरकार को अपना निर्णय प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के सामने रखना पड़ेगा। गाँव के सब कर्मचारियों, चौकीदारों, पटवारियों, मुखिया, वैद्य, अध्यापकादि की नियुक्ति बोर्ड का चेयरमैन करेगा। उनके नियन्त्रण का पूर्ण अधिकार चेयरमैन को होगा। बोर्ड के लिए जरूरी पुलिस-नियुक्ति, नियन्त्रण सम्बन्धी सब अधिकार भी चेयरमैन को होंगे। इनमें से किसी के भी विरुद्ध पंचायत में प्रस्ताव पास होने पर इनके विरुद्ध शिकायत की जाँच करना लाजिमी

होगा। प्रान्तीय और केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं में सदस्य ग्राम पञ्चायत के सदस्यों द्वारा चुने जायँगे।

किसान-राज में कार्यकारिणी पर जनता का नियन्त्रण और व्यवस्थापिका सभा का अंकुश होगा। न्यायकारी और कार्य-कारी अधिकारी अलग अलग होंगे। किसान-राज काल में किसान-मजदूर-प्रजाराज होगा। प्रजा तो नव्वे फीसदी किसान है ही। बड़े कारखानों के मजदूरों की संख्या भी हमारे देश में एक फीसदी से अधिक नहीं है। उनमें भी बहुत से किसान हैं और हृदय तो अधिकांश का किसान ही है। हाँ, किसान राज मजदूर पार्टी के नाम पर कम्यूनिस्ट पार्टी की डिक्टेटर शाही न होगी। किसान-राज का स्वरूप सङ्घीय होगा। उसकी बनावट और कार्यसञ्चालन लोक-तन्त्रीय। प्रत्येक वयस्क पुरुष के लिए अपनी व स्वदेश की रक्षा सम्बन्धी शिक्षा लेना अनिवार्य होगा। प्रत्येक को रक्षा सम्बन्धी शस्त्रास्त्र उपलब्ध होंगे। किसान-राज की सेना समस्त किसानों की सेना जन-सेना होगी। स्त्रियों के लिए सैनिक-शिक्षा और सैनिक-सेवा वैकल्पिक होगी। इस योजना के अनुसार शोषण के लिए असम्भव देश की जो आर्थिक व्यवस्था तथा समस्त जन-बल पर आधारित ज्योत्स्ना-शक्ति होगी इसके कारण किसी को न तो हमारे देश पर आक्रमण करने का लालच ही होगा न साहस ही। और किसान-राज का भारत दूसरे देशों से सदैव मैत्री और सहयोग का सम्बन्ध रक्खेगा। वह मानव-पार्लियामेण्ट और संसार-सङ्घ का समर्थक होगा। बोर्ड पञ्चायतों की और प्रान्त बोर्डों की देख-रेख करेंगे।

जो पंचायतें तथा जो बोर्ड अपने कर्त्तव्य का पालन न करेंगे उन्हें क्रमशः बोर्ड और प्रान्त नष्ट कर सकेगा परन्तु इसके लिए व्यवस्थापिका सभाओं को अपील सुननी पड़ेगी।

इस योजना को पूरा करने के लिए किसानों में सहयोग, स्वावलम्बन लोक-सेवा प्राणि-पूजा और अनुशासन का भाव पुनरुज्जीवित करना होगा। उन्हें बताना होगा कि स्वेच्छा-पूर्वक स्वीकृत अनुशासन स्वाधीनता की पहली शर्त्त है। उन्हें यह भी बताना होगा कि पारस्परिक सहयोग और स्वार्थ-त्याग-यज्ञ-भाव, जीवन की सफलता का रहस्य है। उन्हें याद दिलानी होगी कि हलुआ तो दूर रोटी खाने के लिए भी जमीन जोतनी-बोनी, फसल बढ़ानी-रखानी और काटनी पड़ती है तथा नाज निकाल कर पीसना कूटना, आटा गूँथना, रोटी बेलना-सेंकना पड़ता है। श्रम और बलिदान के संसार का कोई काम नहीं चल सकता। बिना उनको अपनी असीम शक्ति की याद दिलानी होगी। उन्हें बताना होगा कि अपनी शक्ति को याद करते ही आप अपने कष्टों के महासागर को सहज लाँघ सकते है।

इस कार्यक्रम को पूरा करने के लिए प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय दफ्तर के अलावा हर कमिश्नरी तथा हर जिले में एक-एक तथा हर सौ गाँवों के मण्डल के लिए एक पूरा समय देकर सेवा, प्रचार और संगठन, संचालन और निरीक्षण कार्य करने वाले सुशिक्षित कार्यकर्त्ता रखने होंगे। इन कार्यकर्त्ताओं का काम होगा कि प्रत्येक ग्राम में उपयुक्त आर्थिक-योजना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करने के अलावा, प्रत्येक ग्राम में पञ्चायत तथा

महिला-समिति, वानर-सेना, बिल्ली-दल, किसान-कुमार टोली यानी स्वयंसेवक-दल स्थापित करें जिनमें कम से कम दस-दस सदस्य और एक-एक नायक तथा उपनायक हों। फिर हर दस गाँव का एक ग्राम-समूह बना कर उनमें इसी प्रकार के ऐसे बीस-बीस स्वयंसेवकों तथा एक-एक नायक व उपनायकों का संगठन करें और यही मण्डल में भी। प्रत्येक गाँव में वाचनालय पुस्तकालय स्थापित करना भी उन्हीं का काम होगा। यह एक इनचार्ज कार्यकर्त्ताओं के कार्य क्षमता की न्यूनतम कसौटी होगी।

इतना संगठन होने पर अहिंसात्मक सत्याग्रह और असहयोग का अमोघ अस्त्र किसानों के हाथ में है ही। किसान इस प्रकार एक ओर सङ्गठित हो जाय तो संसार की कोई भी शक्ति किसान-राज्य को नहीं रोक सकती। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति, संसार का लोक-मत, घटना-चक्र तथा प्रगति का प्रवाह भी किसान-राज के पक्ष में है।

आवश्यकता केवल किसानों की नींद खोलने, उनकी जड़ता और उदासीनता को दूर करने की है। यदि अटल विश्वास रखने वाले अदम्य साहसी कार्यकर्त्ता हों तो वे कठिनाइयों के पहाड़ों को सेतुबन्ध रामेश्वर की तरह पुल बनाने के काम में ला सकते हैं। और संशयात्माओं के बारे में ही किसानों के भगवान कृष्ण ने स्वयं यह कहा है कि वह नाश को प्राप्त होता है, उसको न सुख मिलता है न उसका लोक-परलोक सिद्ध होता है। गीता के अनुसार सब कार्यों की सिद्धि के लिए (१) शक्ति अधिकरन) (२) कार्यकर्त्ता (कर्ता) (३) साधन (करण)

(४) पृथक्-पृथक् विविध चेष्टा और (५) दैव—ये पाँच करण बताये हैं उनमें से तीन हमारे पास प्रचुर मात्रा में हैं। आवश्यकता केवल उपर्युक्त योजना के अनुसार विविध पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ करने की है। दैव भी हमारे अनुकूल है। दैव सदैव उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता करते हैं। दैव और भाग्य के भरोसे बैठे रहने वालों के लिए रामायण में कहा गया है कि:—

"दैव दैव आलसी पुकारा। नाथ दैव कर कौन सहारा॥"

एक दूसरे हिन्दी कवि ने कहा है:—

भाग्य भरोसे जो रहें, कुपुरुष आपहि टेरि।
पुरुष-सिंह जो कुछ भी, लक्ष्मी ताकी चेरि॥

इस योजना की एक विशेषता यह है कि इसका बहुत कुछ भाग सरकार की सहायता बिना भी पूरा किया जा सकता है—वह राष्ट्रीय सरकार की दृष्टि से स्वावलम्बिनी है। उसका तीस अरब व्यय अमेरिका के एक महीने के युद्ध-व्यय के बराबर है। किसान सेवकों की दृष्टि से योजना-प्रचार और उनके अनुसार सङ्गठन करने वाले कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति सम्बन्धी भाग न केवल राष्ट्रीय अथवा किसान-सरकार से पहिले ही किया जायगा बल्कि उसको कार्यान्वित करने से किसान-राज कायम करने, शक्ति हाथ में लेने की सामर्थ्य भी आयगी। रचनात्मक कार्यक्रम की खूबी ही यह है कि विशुद्ध सेवा-भाव के बिना किसी कूट-नैतिक अथवा राजनैतिक उद्देश के उसे करते हुए हम स्वतः जन-संपर्क में आते हैं, जनता से हमारा संसर्ग स्थापित होता है, हमें

उन पर विश्वास प्राप्त होता है तथा हम उनके जीवन में अपना जीवन मिला देते हैं। और नवजीवन की यह जाग्रत और सङ्गठित शक्ति इतनी प्रबल और प्रत्यक्ष हो जाती है कि उसके अस्तित्व-मात्र से विरोधी शक्तियाँ हीनों को स्वीकार कर लेती हैं और सार्वजनिक अहिंसात्मक सत्याग्रह के बिना भी किसान-राज की स्थापना सम्पन्न हो जाती है।

मुँह दर मुँह

इस एक दम नई और मौलिक सी परन्तु सर्वथा व्यावहारिक और कारगर योजना के सम्बन्ध में स्वभावतः पाठकों के मन में तरह-तरह के सन्देह उत्पन्न हो सकते हैं। उसमें कुछ त्रुटियों का होना अवश्यम्भावी है। क्योंकि कोई भी मानव-योजना सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकती। परन्तु हमारा ध्रुव विश्वास है कि योजना को कार्यान्वित करने की प्रक्रिया में उससे प्राप्त अनुभव के आधार पर वे त्रुटियाँ अपने आप स्पष्ट और दूर होती जायँगीं। स्वभाव से ही शक्की लोगों के सन्देह को न तो हम दूर कर ही सकते हैं, न उसका प्रयत्न ही करेंगे। कहावत है कि वहम की दवा लुकमान के पास भी नहीं है। परन्तु कुछ आपत्तियाँ और आलोचनाएँ ऐसी हैं जिनका उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

कहा जा सकता है कि यह योजना, किसान-राज की योजना होने के कारण, घरेलू उद्योग-धन्धों और ग्राम-स्वराज के पहियों से चलने के कारण प्रगति-विरोधी और प्रतिक्रिया वादी योजना है। वह विज्ञान के विरुद्ध है और वैज्ञानिक आविष्कारों के पूर्ण उपयोग से जो सुख-भोग उपलब्ध हो सकते हैं उनका बहिष्कार करती है।

इस आपत्ति का स्रोत पाश्चात्य सभ्यता की मानसिक दासता है। पाश्चात्य प्रगति के प्रचार-प्रवाह से इन आलोचकों

की आँखें चौंधिया गई हैं। उनके लिए प्रगति और पाश्चात्य पर्यायवाची हो गये हैं तथा पाश्चात्य के मानी हैं प्रतिक्रियावादी। पाश्चात्य दर्शन, पाश्चात्य भौतिकवाद, पाश्चात्य विज्ञान, पाश्चात्य इतिहास और पाश्चात्य अर्थ-शास्त्र और पाश्चात्य समाज-शास्त्र इनके षड दर्शन हैं। इनका सबसे अधिक सङ्गठित और मुखरित सम्प्रदाय पूँजीवादी और मार्क्सवादी सम्प्रदाय हैं। पूँजीवादियों की आलोचनाओं को हम उनके उपयुक्त मनोभाव से उपेक्षा करके छोड़ देते हैं और मार्क्सवादी आलोचनाओं का ही यहाँ विचार करते हैं।

इस आलोचना के दो नमूने लीजिये। पहली आलोचना एक ऐसे महाशय की आलोचना है जिनके जीवन-सिद्धान्त दो ही मालूम होते हैं एक आत्म-विज्ञापन, दूसरा पूज्यों की अप्रतिष्ठा। 'बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा' और 'येनकेन प्रकारेण प्रसिद्ध पुरुषो भवेत्' इनके मूल-मन्त्र हैं। इस दिग्विजय के लिए विश्व-वन्द्य महात्मा गाँधी और भारतीय दर्शन-शास्त्र के जगत्प्रसिद्ध आचार्य सर राधाकृष्णन को ही नहीं वशिष्ठ, विश्वामित्रादि समस्त ऋषि-मुनियों और कालिदास प्रभृति कवि-कुल कमल-दिवाकरों को भी बुरी से बुरी गालियाँ देना, उन्हें पेटू, कामी, स्वार्थी और प्रगति-विरोधी बनाना इनका ब्रह्मास्त्र है। इनकी राय शरीफ़ में जो कुछ रूसी है वही अच्छा है और कोई भी चीज जो रूसी नहीं महज इसलिये बुरी है क्योंकि वह रूसी नहीं है। यहाँ तक कि उन्हें जीवन-सङ्गिनी भी रूसी ही चाहिए। इनकी राय में जब तक कोई दवा पाश्चात्य न हो, या जब तक

उसमें गो-माँस और शूअर की चर्बी या [illegible] या रक्त न हो तब तक वह दवा ही नहीं। फिर चाहे वह प्रयोग और अनुभव से कितनी ही सफल क्यों न हो।

इन महाशय की राय है कि "छोटे ग्राम-पञ्चायतों को तोड़े बिना बड़े शक्तिशाली प्रजातन्त्र की नींव नहीं रखी जा सकती। पूँजीवाद के असर से लोगों में साहस का अधिकाधिक प्रचार और प्रयोग होगा। गाँवों में बिखरे बेकार किसानों और कारीगरों को कारखानों में इकट्ठा किया जायगा।

एक उदाहरण लीजिये महात्मा गाँधी ने भारत के करोड़ों किसानों की सच्ची और सफल चिकित्सा के प्रयोग अपने ऊपर किये क्योंकि जब तक पूर्ण स्वराज्य या सोवियत राज न हो तब तक वे लाखों गरीब किसानों को मक्खियों की मौत मरते देखकर भी हाथ पर हाथ रक्खे बैठे नहीं रहना चाहते थे। इन प्रयोगों में एक सफल प्रयोग गीली मिट्टी के लेप का प्रयोग था। उससे बहुत से लोगों को बहुत सी अवस्थाओं में प्रत्यक्ष और आश्चर्य-जनक लाभ पहुँचा। परन्तु चूँकि यह प्रयोग रूसी अथवा पाश्चात्य नहीं था, चूँकि वह मार्क्स बाबा के ब्रह्म-वाक्यों में नहीं मिलता, उसके आविष्कारक गान्धी थे, इसीलिए इन्हीं प्रबल तार्किक और वैज्ञानिक कारणों के आधार पर यहाँ पण्डित जी ने उस प्रयोग को "गुहा-मानव-नाश" करार दे दिया। वे यह भूल गये कि वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप भाँति-भाँति के शोषक और संहारक यन्त्रों से सुसज्जित पाश्चात्य-नर-पशुओं द्वारा प्राची के बीसियों देशों में रहने वाले करोड़ों

मानवों के शोषण से जो चीत्कार और आज भी यूरुप के पश्चिमी और पूर्वी मोर्चे पर पाश्चात्य नर-राक्षसों द्वारा जिस नर-वेध का निनाद सुनाई दे रहा है उससे तो यह गुहा-मानव-नारा कहीं अच्छा है। वह मानव-नारा तो है फिर चाहे गुहा-मानव का ही क्यों न हो ? अप्टन सिनक्लेयर द्वारा वर्णित शिकागो के पशुओं का पीड़ा-क्रन्दन केवल गगन-चुम्बी तथा सुविशाल कारखानों में रहने वाले पशुओं का क्रन्दन होने के कारण ही गुहा-मानव-नारों से अच्छा नहीं हो सकता। ये महाशय हमारे देश में कम्यूनिस्ट-साम्यवादी विचार-धारा के प्रतीक हैं।

दूसरा उदाहरण बाबू जयप्रकाशनरायण का है। उनकी उत्कट देश-भक्ति तथा उनके त्याग और उनकी वीरता में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं। परन्तु "कांग्रेस किधर" नामक पम्फ्लैट में उन्होंने ग्राम-स्वराज की निन्दा करके जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया है उसका मैं पूर्णतया विरोधी हूँ। उन्होंने लिखा है कि—"गाँवों की स्वयं पर्याप्तता भारत की राजनैतिक अनैक्य का मुख्य कारण थी।" पृष्ठ १३। क्यों और कैसे यह बताने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। कम से कम उस पम्फ्लैट में स्पष्ट है कि लेखक ने इकतालीस लाख के आधार पर गाँवों की स्वयं पर्याप्तता और भारत के राजनैतिक अनैक्य में यह कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। जयप्रकाशनारायण जैसे व्यक्ति से ऐसी भूल होने का कारण यही हो सकता है कि उन्होंने अमेरिका में शिक्षा पाई है, जिसके परिणामस्वरूप उनके जीवन में बैबिलपनपन घर कर गया है। यदि उन्हें भारतीय-संस्कृति

भारतीय इतिहास, भारतीय-परम्परा, भारतीय-देशकालावस्था और भारत में प्रचलित स्वदेशी संस्थाओं, प्रणालियों और व्यवस्थाओं का तथा उनकी असीम सन्निहित शक्ति और सद्-भावनाओं का गहन ज्ञान होता तो वे ऐसा कदापि न कहते। हमें विश्वास है कि यदि वे विश्व के विकास तथा मानव-प्रगति और मानव-कल्याण, संसार में स्थायी सुख-शान्ति, लोकतन्त्र चौमुखी स्वाधीनता की स्थापना की दृष्टि से देखेंगे तो अपनी भूल स्वीकार कर लेंगे और हमारी ही तरह "सब शक्ति ग्रामों को मिले" इस नारे को मानने लगेंगे। जयप्रकाश बाबू समाज-वादी मत के प्रतिनिधि हैं।

हमारी किसान-राज की योजना भूमिज है—वह भारत-भूमि से प्रस्फुटित हुई है। भारत की प्राचीन परम्परा, भारत की सभ्यता-संस्कृति, भारतीय-प्रतिभा, भारतीय-इतिहास, भारत की आवश्यकताओं और भारत की देश-कालावस्था से निकली है। भारत की भूमि से अंकुरित यह योजना भारतीय जलवायु में सहज ही बढ़ती जायगी। और किसी भी योजना के सफल होने के लिए उसमें इन गुणों का होना आवश्यक है। जान मैनार्ड ने अपनी "रूसी किसान" Russian Peasant & other Studies नामक प्रचुर प्रमाण परिपूर्ण अधिकारी पुस्तक के तीसवें पृष्ठ पर लिखा है कि रूस की मीर की प्राचीन संस्था अर्वाचीन सामूहिक खेती सरीखी ही थी। मीर में खेती सब किसान मिलकर करते थे। रूस में किसानों का विश्वास था कि मीर जो कुछ भी फैसला कर दे वह सब को मान लेना चाहिये।

मीर ही किसानों को खेत बाँटती थी और आवश्यकतानुसार इस बँटवारे को बदलती रहती थी। फसल कब बोई जाय, इस बात का फैसला भी मीर करती थी। ग्राम-स्वराज के समस्त अधिकार मीर को प्राप्त थे।" स्पष्ट है कि यदि रूस में मीर की यह परम्परा न होती तो वहाँ सामूहिक खेती असम्भव हो जाती।

आर्थिक दृष्टिकोण से पहला आक्रमण घरेलू धन्धों पर होता है। कहा जाता है आर्थिक दृष्टि से अर्वाचीन काल में वे अव्यवहार्य हैं। अब घरेलू धन्धों से काम लेना, प्रगति के प्रवाह को पलटना है यानी असम्भव काम है। ये घरेलू-धन्धे बड़े कारखानों के सामने टिक नहीं सकते। बड़े कारखानों से काम लिये बिना हमारा काम नहीं चल सकता। आइये हम इन दावों की जाँच करें। बंगाल की १९४० की भूमि-कर कमेटी का कहना है कि वहाँ जिन किसानों के पास काफी जमीन हैं उन्हें भी साल में आठ नौ महीने प्रतिदिन कुछ समय बेकार रहना पड़ता है और इस समय का उपयोग करने के लिए उनके पास अतिरिक्त धन्धे नहीं हैं।

प्रोफेसर वाडिया और क्वेचटी-मर्चेण्ट जैसे भारतीय अर्थशास्त्र के आचार्यों का कहना है कि हिन्दुस्तान में लगभग बारह करोड़ व्यक्ति मजदूर हैं। इनमें से तीन करोड़ अस्सी लाख उद्योग-धन्धों में लगे हुए हैं यानी एक तिहाई से भी कम। इनमें से भी बड़े कारखानों में सिर्फ अस्सी लाख काम करते हैं। भारत का औद्योगी-करण बाकी नौ करोड़ को काम कहाँ

से देगा । "हमारी आर्थिक समस्या" नामक पुस्तक के एक सौ दो वें पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है कि "मशीन द्वारा बड़े पैमाने पर माल तैयार करके हम खेती पर आबादी के भार को कम नहीं कर सकेंगे ।"

चरखे-करघे के पक्ष में खूबियाँ बताते हुए उन्होंने कहा है कि इनमें पूँजी इतनी कम लगती है कि जो किसानों की पहुँच से बाहर नहीं और देश में मजूरी की कमी नहीं । ऐसी हालत में ऐसे अतिरिक्त धन्धे को सर्वव्यापी क्यों न बनाया जाय ? क्या केवल इसलिए कि पश्चिम के अर्थशास्त्रियों ने अपने शहरी देशों के अर्थशास्त्र में उसके पक्ष में नहीं लिखा है । भारतीय अर्थ-शास्त्री तो निश्चित रूप से यह कहते हैं कि चरखे-करघे के धन्धे का भविष्य उज्वल है ! बहुत पहले बौलब्रुक साहब ने यह कहा था कि ग़रीब और असहाय औरतों के लिए चरखा ही एक मात्र सहारा है । वाडिया और मर्चेण्ट साहब ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक के ४८४ वें पृष्ठ पर लिखा है कि:—"हमें अपनी यह मनमानी धारणा छोड़नी पड़ेगी कि बहुत बड़े पैमाने पर माल तैयार करना Mass Production ही आर्थिक उन्नति का एक मात्र तरीका है। अगर हम शिक्षा द्वारा गाँवों के कारीगरों के माल बनाने के तरीकों को उन्नत कर सकें तथा उनके माल की बिक्री के बाजारों का अच्छा इन्तिजाम कर सकें तो हम अपने देश में करोड़ों को बेकार और जबरदस्ती काहिल होने से तथा सरकार के टुकड़ों पर रहने की उन मुसीबतों से बचा सकेंगे जो यूरुप में औद्योगीकरण से उत्पन्न हुईं ।

कौन नहीं जानता कि औद्योगीकरण—पूँजीवाद से शोषण और बेकारी की वृद्धि हुई तथा उसके फलस्वरूप मनुष्य मशीन का एक पुर्जा, तोप में झोंकने का कूड़ा मात्र रह गया! प्रोफेसर जी० डी० एच० कोल का कहना है कि मशीनों द्वारा उत्पादन-शक्ति की वृद्धि लोगों के सङ्कट और उनकी बेकारी का निश्चित कारण हो जाती है। प्रोफेसर हैरोल्ड लास्की ने अपनी, "यहाँ से किधर?" नामक पुस्तक में पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि पूँजीवादी देशों में लोकतन्त्र असम्भव है। और द्वन्द्वात्मक भौतिक प्रगतिवाद का जो नियम निस्सन्देह पश्चिम के औद्योगिक और शहरी देशों के लिए सही है, उसके अनुसार प्रगति के लिए पूँजीवाद के रौरव नरक और साम्राज्यवाद, फासिस्मवाद तथा कम्यूनिस्टपार्टी की तानाशाही आदि कुम्भीपाक नरकों से गुजरना जरूरी है। श्रेणी, शासन और शोषणहीन समाज का स्वप्न जब सच्चा होगा तब होगा, सम्भव है, वह स्वप्न ही बना रहे परन्तु इतना निश्चित है कि आङ्गल अर्थशास्त्र पर आधारित मार्क्सवाद को मान लेने पर बड़े पैमाने पर बड़े-बड़े कारखानों में माल तैयार करने की बात मान लेने पर हमें शताब्दियों तक लोकतन्त्र को जलाञ्जलि दे देनी होगी। पूँजीवाद वैयक्तिक हो, चाहे सरकारी, और पहले तो वह वैयक्तिक होगा ही, सब पापों की जड़ है। पैसे का लोभ, पूँजीवाद का मुख्य सिद्धान्त होता है। सुविख्यात आङ्गल अर्थशास्त्राचार्य लार्ड कीन्स का कहना है कि पूँजीवाद के फलस्वरूप शोषण, उपनिवेश, स्थापन, साम्राज्यवाद, महायुद्ध और मनुष्यों के समूह के समूहों का कत्लेआम ये

सब विपत्तियाँ एक कड़ी में बँधी हुई जलूस बना कर आती हैं। बड़े पैमाने पर बड़े-बड़े कारखानों में माल तैयार करा कर पहले हम पूँजीपतियों को जनता का शोषण करने का स्वर्णावसर देते हैं और फिर उस शोषण का अन्त करने की चीख-पुकार करते हैं।

अर्वाचीन समाज-शास्त्रियों का कहना है कि समाज पर अब पूँजीपतियों का नहीं प्रबन्ध-कर्त्ता-वर्ग का प्रभुत्व है। विशेष कर आर्थिक-क्षेत्रों पर उत्पादन बड़े पैमाने पर लिमिटेड कम्पिनियों द्वारा ही हो सकता है। इन कम्पिनियों के शेयर होल्डर तो सुषुप्त भागीदार होते ही हैं, डायरेक्टरों का भी इनमें उतना प्रभाव नहीं होता जितना मैनेजिङ्ग एजेण्टों, प्रबन्ध-कर्त्ताओं का। फलतः शक्ति अब पूँजीपतियों के हाथ में नहीं, प्रबन्धकों के हाथ में है और बड़े पैमाने पर माल तैयार करने पर आर्थिक क्षेत्र में तथा किसी भी वर्ग की डिक्टेटरशाही होने पर राजनैतिक क्षेत्र में, नौकरशाही की संख्या और उसके प्रभाव में असित वृद्धि होती है। इस प्रकार बड़े पैमाने पर माल तैयार करने की पद्धति से हम जनता की आर्थिक और राजनैतिक दासता की जड़ें मजबूत करते हैं। वर्नहम ने प्रबन्ध सम्बन्धी क्रान्ति (Managerial Revolution) में प्रबन्ध-कर्त्ताओं की शक्ति-वृद्धि का अकाट्य प्रमाण-पूर्ण वर्णन और शास्त्रीय विवेचन किया है। सोविएत रूस का इतिहास इसका साक्षी है। वहाँ १९४० तक आर्थिक विषमता कम होने के बदले बढ़ रही थी। सोविएत अब पूर्णतया राष्ट्रवादी हो गया है। उसकी अन्तर्राष्ट्रीयता पूर्णतया तिरोहित

हो चली है। वह ब्रिटेन जैसे सबसे बड़े साम्राज्यवादी और अमेरिका जैसी सबसे बड़े पूँजीवादी देश में सैनिक-रक्षक दल बन गया है। वह त्रिगुट्ट का स्थायी और उत्साही सदस्य है। वह साम्यवादी साम्राज्य के रूप में संसार के सामने आ रहा है।

केन्द्रीय नियन्त्रण और बड़े पैमाने की व्यवस्था से वैयक्तिक स्वाधीनता नष्ट हो जाती है और जिन लोगों के हाथों में ये असीम अधिकार जाते हैं वे प्रभुता के मद से मत्त और भ्रष्ट हो जाते हैं। साम्यवाद और समाजवाद में उत्पादन के साधन राज के हाथ में अवश्य होते हैं। परन्तु हम इस मुख्य बात को कैसे भुला सकते हैं कि राज भी किसी के हाथ में होता है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा उत्पादन के साधन भी वास्तव में उन्हीं के हाथों में होते हैं जिनके हाथों में राज होता है। इसीलिए हम किसान-राज की शर्त को पहली शर्त मानते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी केन्द्री-करण से विकेन्द्री-करण बहतर है। समाज की चित्तवृत्ति (Psychology of Society) की मीमांसा करते हुए प्रोफेसर जिन्सवर्ग ने विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया है। वास्तव में शान्ति, लोकतन्त्र और मानवी मूल्यों की प्रधानता, सादगी, विकेन्द्री-करण और घरेलू उद्योग-धन्धों से ही हो सकती है।

पाश्चात्य पूँजीवाद की प्रगति से चौंधियाए हुओं को एच० जी० वेल्स का एक पात्र "भावी की रूप-रेखा" (Shape of Things to Come) में पूछता है कि यह सब प्रगति और

उन्नति है क्या? इस समस्त प्रगति और उन्नति से क्या लाभ है?

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और राजनैतिक प्रतिस्पर्धाओं और धूर्तता तथा क्रूरता पूर्ण दाँव-पेचों की दृष्टि से देखिये तो भी आपको यह मालूम हो जायगा कि यदि हम मानव बाहु-बल के बूते पर अधिक से अधिक स्वावलम्बी नहीं होंगे तो हमें न केवल परमुखापेक्षी ही होना पड़ेगा बल्कि किसी न किसी की आर्थिक दासता की जञ्जीरों में जकड़ जाना पड़ेगा।

हमारे समस्त उद्योगों और प्रयत्नों का उद्देश स्वाधीनता के वायु-मण्डल में मानव व्यक्तित्व का विकास और unfoldment होना चाहिये। इसके लिए उद्योग धन्धों का प्रदेशीकरण और विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। बड़े पैमाने पर माल तय्यार करने से हमारे आराम और विलासिता में निस्सन्देह बहुत वृद्धि होगी। लेकिन ये आराम और भोग-विलास हमारी स्वाधीनता का सर्वनाश करके हमें उसी प्रकार बन्धन में डाल देंगे, जिस तरह मक्खी गुड़ में फँस जाती है। आल्टस हक्सले ने अपनी "नई और बहादुर दुनियाँ" (The Brave New World) नामक पुस्तक में एक मुक्त वनवासी का चित्र खींचा है जो इस सभ्य और समुन्नत संसार में अपने को अत्यन्त व्यथित और असहाय पाता है। बड़े पैमाने वाली सभी व्यवस्थाओं में हम अपनी स्वाधीन होने की स्वाधीनता खो बैठते हैं। इसीलिए अपनी 'साध्य और साधन' (End & Means) नामक प्रसिद्ध पुस्तक में आल्टस हक्सले ने मानवोन्नति और

मानव-विकास के लिए अनासक्त स्त्री-पुरुषों का न्याययुक्त तथा सुख शान्ति और स्वाधीनता मय समाज स्थापित करने के लिए उद्योग-धन्धों के विकेन्द्रीकरण का प्रतिपादन किया है। इङ्गलैंड के उद्भट समाजवादी विद्वान जी० डी० एच० कोल का भी यही कहना है कि आर्थिक लोकतन्त्र छोटे-छोटे घरेलू धन्धों में ही सम्भव हो सकता है। प्रो० हैरोल्ड लास्की ने भी अपनी The Modern State नामक पुस्तक के एक [सौ] एक वें पृष्ठ पर लिखा है कि लोकतन्त्र वास्तव में उसी आबादी में पैदा होकर पनप सकता है जिसमें व्यक्तियों के सम्मिलित शासन का योगफल होता है अर्थात् जिसमें प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने जीवन पर स्वयं राज करता है।

निःसन्देह बड़ी-बड़ी मशीनों से माल तैयार करने पर लोगों को अवकाश खूब मिलेगा। लेकिन क्या अवकाश की अति कोई अच्छी बात है? सप्ताह में पाँच-छः प्रति दिन आठ घण्टे काम करके सोलह घण्टे रोज का अवकाश क्या कम अवकाश है? क्या आठ घण्टे से कम काम करने पर हम कोमल और आलसी नहीं हो जायँगे? क्या शान्ति और आराम का कीड़ा होना कोई अच्छी चीज है? क्या दिन में कम से कम आठ घण्टे का शारीरिक या मानसिक अथवा शारीरिक और मानसिक काम स्वतः अपने आप में आवश्यक और आनन्दप्रद नहीं है?

जार्ज बर्नार्डशा ने बुद्धिमती महिला के लिए समाजवाद और पूँजीवाद की पथ-प्रदर्शिका नाम्न पुस्तक में यह ठीक ही लिखा

है कि हमें लम्बी छुट्टियों के जीवन से भी छुट्टी की जरूरत है। बेकार बैठे रहना अप्राकृतिक होता है, उससे मन ऊबने लगता है। बेकार धनिकों की दुनियाँ सबसे ज्यादा थकाने और सुखाने वाले निरन्तर, बेकार कार्यों की दुनियाँ है। शा ने अपने तरीके पर नरक की परिभाषा करते हुए कहा है कि स्थायी छुट्टी ही नरक है। यह कौन नहीं जानता कि अवकाश पाने की समस्या उतनी कठिन नहीं है जितनी अवकाश में क्या करें, इसका उत्तर देने की समस्या पर्याप्त काम न रहने पर प्रायः मनुष्य का शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक अधःपतन हो जाता है।

यदि आप यह जानना चाहते हैं कि बेकार धन-कुबेरों का जीवन कितना नीरस, अप्राकृतिक, दुःखमय और भ्रष्टता तथा पशुतापूर्ण होता है तो अस्टनसिनक्लेयर का The Metropoliss नामक उपन्यास तथा इस विषय पर ऐसे ही अन्य ग्रन्थ पढ़िये। यह सभी जानते हैं कि आत्म-घात की संख्या सबसे अधिक बेकार धन-कुबेरों में ही होती है। बेचारे अपनी बेकारी की जिन्दगी से आजिज़ आकर उससे पीछा छुड़ाने के लिए आत्म-हत्या कर लेते हैं। जेलों में हमको स्वयं बेकारी की इस विकट समस्या का सामना करना पड़ा है।

किसान-राज में बड़े पैमाने पर माल तयार नहीं किया जायगा, विशाल जन-दल द्वारा माल तैयार होगा। किसान-राज में जीवन एक और अविभाज्य है। वास्तविक जगत् और व्यवहार में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के टुकड़े-टुकड़े नहीं किये जा सकते। ये सबके सब एक दूसरे में बिंधे और गुथे हुए हैं।

अपनी इसी धर्म-दृष्टि से किसान-राज में पैसे का मूल्य न होकर नैतिक और आदर्शों का मूल्य होगा।

औद्योगीकरण में प्रधानता उत्पादन को दी जाती है, मनुष्य को नहीं। किसान-राज में मनुष्य और उसकी आत्मा का प्रधान स्थान है, उत्पादन के समेत और सबकी उसके बाद।

जब हम द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद Dialectical Materialism के नाम पर यह प्रकृति का अटल नियम मान बैठते हैं कि बड़े पैमाने पर बड़ी-बड़ी मशीनों से, बड़े-बड़े कारखानों में माल तैयार किये बिना उन्नति और प्रगति हो ही नहीं सकती। तब हम मार्क्स की ऐतिहासिक प्रक्रिया और ऐतिहासिक आवश्यकता के प्रति वैसी ही अन्ध-श्रद्धा प्रकट करते हैं, जैसी धर्मान्ध अपने-अपने धर्म की पोप-कथाओं पर। जार्ज सौरेल ने अपनी "हिंसा पर विचार" Reflections on Violence नामक पुस्तक में ठीक ही कहा है कि मानवोन्नति का इतिहास एक पोप-कथा (Myth) की जगह दूसरी पोप-कथा की मूर्ति प्रतिष्ठा का इतिहास है। तीव्र तर्क, विमल विवेक, विशुद्ध विज्ञान, इतर इतिहास, द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद के सिद्धान्त में कितनी ही कमियाँ क्यों न पावें, विकासवाद और आकर्षण-सिद्धान्तों में भी त्रुटियाँ क्यों न पाई गई हों, उन्नीसवीं सदी का भौतिकवाद स्वयं बीसवीं सदी के भौतिक-विज्ञान द्वारा कितना ही सदोष क्यों न सिद्ध हुआ हो, द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद के सम्बन्ध में मार्क्सवाद का वाक्य अन्तिम प्रमाण है।

कार्य-कारण के सम्बन्ध में ह्यूम की अकाट्य आलोचना के बाद, और स्वतन्त्र विचार को जलाञ्जलि देकर, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बारे में यह भी मानने के लिए तैयार नहीं है कि किसी भी सिद्धान्त का अटल आवश्यकता होना विवेक के विरुद्ध है। अच्छे से अच्छा नियम और सिद्धान्त वास्तव (Fact) में सन्निहित एक सम्भावनामात्र है जिससे कुछ या कदाचित् सब मानव-समाज की कुछ परिस्थितियों की व्याख्या हो सके। परन्तु मार्क्सवादियों की राय में द्वन्दात्मक भौतिकवाद इस भौतिक ऐतिहासिक सत्य का भी अपवाद है।

चाहे इतिहास भले ही यह पुकार-पुकार कर कहे कि मध्य-एशिया के जिन देशों या अरब की जिन जातियों ने दिग्विजय की जो भूखी नहीं थीं। उनके विस्फोट की जो सक्रिय और उत्तेजित करने वाले कारण कल्पित विलासिता के स्वप्न और दीन थे, नकि अर्थ। परन्तु जो ऐतिहासिक तथ्य हमारे बाबा के सिद्धान्त से मेल न खाते हों उन्हें हम क्यों मानें ?

हम इस सत्य को भी क्यों मानें कि जब तक इस भौतिक जगत का ऊँचा उठाने वाला उद्देश न हो तब तक सभ्यता का जीवन या तो भोग-विलास में लोरते रहने का जीवन होता है या पूर्व तथा भुक्त भोगों बन्ध्या पुनरावृत्ति मात्र और ऐसी पुनरावृत्ति जिसमें अनुभूति की शक्ति दिन दिन पर कुण्ठित होती जाती है, यानी दिन पर दिन आनन्द की मात्रा घटती जाती है।

मार्क्सवादी यह समझते हैं कि चूँकि कार्ल मार्क्स का यूरुप की अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति का

इतिहास और विश्लेषण सुन्दर और बहुत हद तक सही है। इसलिए उसके आधार पर की गई प्रगति की सब कल्पनाएँ अन्त में सब वर्गों के नष्ट होने और सर्वहारा होने की तथा सर्वहाराओं की तानाशाही की कल्पनाएँ ही नहीं इस तानाशाही के पतझड़ और श्रेणी तथा शासन-हीन आदर्श समाज की कपोल कल्पनाएँ भी सत्य होंगी। फिर चाहे उन्हें यह मालूम हो या न हो कि किसी सुदूर काल में जब किसी गुजरते हुए तारे और सूरज में दूसरी टक्कर होगी, महाप्रलय होगी, तब क्या होगा ? इस पृथ्वी पर मानवी-जीवन क्या होगा ? मानवेतिहास का अतीत ही नहीं वर्तमान भी कितना ही अपूर्ण क्यों न हो हमें सदा अपने कल के निजी भविष्य का भी कोई पता भले ही न हो परन्तु हम मार्क्सवाद के नाम पर उसकी इन सब कपोल-कल्पनाओं को ध्रुव सत्य अवश्य मानेंगे।

मानव-समाज की प्रगति के सुख-रुख पर विवेक-पूर्ण अटकल लगाने के लिये भी हमें उस समाज के समस्त अङ्गाङ्गों की क्रियाओं का ज्ञान होना चाहिए। जिन जीव-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान तथा अध्यात्म-विज्ञान अथवा विश्व-रहस्य सम्बन्धी जिन नियमों द्वारा मानव-समाज का संचालन होता है उनका सम्पूर्ण ज्ञान हमें होना चाहिए।

मौलिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित सामाजिक घात-प्रतिघात भी हमें मालूम होने चाहिये अर्थात् समस्त सहायक विज्ञानों समेत समाज-विज्ञान का सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। परन्तु अभी तो इन सब विज्ञानों का ही पूर्ण विकास

नहीं हो पाया है, अभी तो उनके मौलिक सिद्धान्तों के बारे में इन विज्ञानों के आचार्यों में आपस में भारी मत-भेद हैं और इन समस्त विज्ञानों का जैसा और जितना विकास हो पाया है उसका सम्पूर्ण ज्ञान भी किसी एक मनुष्य के लिए शक्य नहीं और उसका समुच्चय विश्लेषणात्मक पश्चिमी जगत ने अभी किया ही नहीं। फिर भी हम बड़े विश्वास के साथ अपनी प्रत्येक कल्पना को इतिहास की अनिवार्य आवश्यकता बताने लगते हैं।

हम यह भूल जाते हैं कि भारत में बड़े पैमाने पर माल तैयार करने की, उसके उद्योगी-करण की, उसमें वैयक्तिक या सरकारी पूँजीवाद का प्रकोप करने की कोई ऐतिहासिक आवश्यकता नहीं है। इस समय जब कि समस्त संसार में हमें एक तरल तथा निरन्तर बदलने वाली स्थिति का सामना करना पड़ रहा है तब हम सूखे और कड़े सिद्धान्तों से काम नहीं ले सकते। सदैव सफलता पर, तुरन्त सफलता पर ध्यान रख कर काम करना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। केवल सफलता के उद्देश से काम करने से एक ऐसी संकीर्ण संसार की सृष्टि होती है जो अपनी समृद्धि के स्रोतों को स्वयं नष्ट कर देता है। उदाहरण, सफलता के नाम पर पूँजीपतियों द्वारा किया हुआ मज़दूरों का, तथा साम्राज्यवादियों द्वारा किया हुआ उपनिवेशों, विशेषकर अधीनस्थ देशों का शोषण !

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक युग का अपना

एक Character चरित्र होता है। यह चरित्र उस प्रतिघात से निर्मित होता है जो उस युग की जन-संख्या पर कुछ भौतिक घटनाओं का होता है जो उन्हें उनके जीवन-मरण से मिलती हैं। और जन-संख्या की अपने युग की भौतिक घटनाओं के प्रति यह प्रतिक्रिया उस जन-संख्या के आधार भूत विश्वासों से उनकी आशाओं, उनके भयों और मूल्यों के सम्बन्धों में उनके निर्णयों से नियत होती हैं।

इस दृष्टि से किसान-राज की घरेलू-धन्धों की यह योजना सर्वथा देशकालावस्था के युग की माँग के अनुकूल है। संसार के अन्य शास्त्रों के साथ-साथ बीसवीं सदी के पिछले चालीस वर्षों में अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्तों में भी काफी हेर-फेर हुआ है और अपने को प्रगति-शील और अपटूडेट कहने वाले मार्क्स-वादी अभी उन्नीसवीं सदी के मार्क्सवाद को ही लिए बैठे हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि शहर की वृद्धि के, लगभग सब कारण, सभ्यता की, विज्ञान के आविष्कारों की नई वृद्धि की वजह से दूर हो गये हैं।

किसी भी कार्य का निर्णय करने से पहले हम इन प्रश्नों से नहीं भाग सकते कि वह कार्य कितना, किस अनुपात में तथा दूसरी बातों से उसकी व्यवस्था के किस नमूने में किया जाय? सभी जानते हैं कि रासायनिक द्रव्यों के ठीक अनुपात के नियमों पर ही किसी भी चीज का बनना-बिगड़ना निर्भर रहता है। सी-ओ का प्रयोग करने पर हम मौत के मुँह में चले जायँगे परन्तु सी-ओ-टू का प्रयोग करने से स्वास्थ्य-सुख-लाभ करेंगे।

यदि हम यह याद रक्खें कि वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों ही प्रकार की विचार-प्रणालियाँ (System) बदलती रहती हैं। प्रत्येक विचार-धारा की समझ सीमित होती है और अन्त में उसकी शक्ति चुक जाती है। अपने यौवन-काल में प्रत्येक विचार-धारा विजय और सफलता प्राप्त करती है। परन्तु जब उसका ह्रास आरम्भ होता है तब वह विनाशक मुसीबत हो जाती है, तो हम मार्क्सवाद को जड़-धार्मिक कर्म-काण्ड का रूप देने की गलती न करें।

किसी भी कार्य-क्रम की आलोचना का श्रीगणेश इस प्रश्न से नहीं हो सकता कि यह सत्य है या मिथ्या। परन्तु इस आधार पर होना चाहिये कि उसका लाभप्रद उपयोग हो सकता है या नहीं। यदि उपयोग में लाने पर वह लाभप्रद सिद्ध न हो तो विफल माना जाना चाहिये।

इन सब दृष्टियों से देखने पर घरेलू-धन्धों की आवश्यकता और उपयोगिता स्फटिक सी स्पष्ट हो जाती है। मशीनों का उपयोग वहाँ त्याज्य नहीं जहाँ वह अनिवार्य हो। उदाहरणार्थ इंगलैंड वगैरः में जहाँ मजदूरों की कमी है वहाँ मशीनें आवश्यक और उपयोगी हो सकती हैं। परन्तु भारत में जहाँ इतनी श्रम-सम्पत्ति बेकार पड़ी हुई है वहाँ हम मशीनों के लिए मनुष्य का बायकाट क्यों करें? आश्चर्य की बात है कि जो मार्क्सवादी या उद्योगीकरण वादी मशीनों के सर्वथा बायकाट का गलत इल्जाम गांधीवाद और ग्रामवाद पर लगाते हैं। वह यह नहीं जानते कि वास्तव में वे स्वयं अपने मशीन-मोह के

कारण मनुष्यों का बायकाट करते हैं। उद्योगी-करण और मार्क्सवाद दोनों में मशीनें मनुष्यों का ही नहीं देवताओं का स्थान ले लेती है। फिर चाहे उस देवता का नाम इन्द्र और सूर्य के बदले बिजली और ट्रैक्टर ही क्यों न हो? देवी-देवताओं के पण्डे-पुजारियों की ही तरह मशीन-मैन आदि होते हैं। उद्योगी-करण और मार्क्सवाद में मशीनों के मालिकों और उनके विशेषज्ञों का महत्व इतना बढ़ जाता है कि इङ्गलैंड और अमेरिका में वे लोकतन्त्र को अपनी लौंडी बना लेते हैं और सोवियत रूस में मार्क्सवाद को अपना मैंस .। संक्षेप में हमें धार्मिक और आध्यात्मिक अन्ध-विश्वासों से ही नहीं भौतिक और वैज्ञानिक अन्ध-विश्वासों से भी मुक्त होना है। स्वतंत्र विचार की आवश्यकता दोनों ओर है।

किसान-राज की हमारी योजना के विरुद्ध दूसरा आक्षेप अहिंसा के सम्बन्ध में हो सकता है। कहा जा सकता है कि शासक और शोषक वर्ग को, ब्रिटिश साम्राज्यशाही और काले-गोरे दोनों प्रकार के पूँजीपतियों को अहिंसा के द्वारा पदच्युत करने के स्वप्न देखना आकाश-कुसुम के समान है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक जोरदार दलीलें ये दी जाती हैं कि यदि आप पार्लियामेंटरी पद्धति द्वारा अथवा अहिंसा द्वारा शोषक और शासक वर्ग को इनके विशेषाधिकारों से रहित करेंगे तो ये हिंसा से काम लेंगे। दूसरी यह कि इतिहास में आज तक कहीं अहिंसा द्वारा शक्ति हाथ में नहीं आई, राज नहीं कायम हुए! इन दोनों दलीलों के कथन-मात्र से ही इनकी सत्यता सिद्ध मानली

जाती है, जब कि थोड़ी सी भी बुद्धि से काम लेने पर इनकी असलियत और निस्सारता उसी प्रकार प्राप्त हो जाती है जिस प्रकार भेद और चालाकी का पता लग जाने पर बाजीगरों के जादुओं की। कौन नहीं जानता कि शक्ति का प्रयोग तभी किया जाता है जब उसका प्रयोग करने वाले को सही या गलत यह विश्वास हो कि जिस पर मैं बल-प्रयोग करने जा रहा हूं वह अशक्त है। जब कि अहिंसात्मक युद्ध-कला की यह खास खूबी है कि उसका प्रयोग करने वाले पग पग पर पशु-बल के पक्षपाती पर यह प्रत्यक्ष कर देते हैं कि उनके पास आत्म-बल का ऐसा अमोघ अस्त्र है जिसके कारण विरोधियों का पशुबल उसी प्रकार विफल और बेकार होजाता है जिस प्रकार तृणहीन भूमि में अग्नि। इतिहास की दुहाई इससे भी ज्यादा खोखली है। समझ में नहीं आता कि इस दलील का प्रयोग करने वाले यह क्यों और कैसे भूल जाते हैं कि हम लीक-लीक चलने वाले भैंसे नहीं, नित नए इतिहास के निर्माता मानव हैं। इतिहास की वास्तविकता क्या है? विश्व के जीवन के मापदण्ड से अभी मानव-समाज है कितने दिन का बच्चा? उसके इतने दिनों का पूर्ण इतिहास भी अभी हमारे पास कहाँ है? यूरुप के कुछ देशों के कुछ समय के इतिहास को हम मानव-जाति का समस्त इतिहास लोक और त्रिकाल का इतिहास क्यों मान लें? आगे इतिहास-काल के तथा संसार की अनेक विस्मय जनक प्राचीन सभ्यताओं और संस्कृतिओं का इतिहास हमारे पास कहाँ हैं? इस अधूरे और अपूर्ण इतिहास के प्रति हम इतनी अन्ध-श्रद्धा क्यों

रखें ? बात बात पर विवेक की दुहाई देने वालों का यह अवि-
वेक, प्रगति की गति के सम्बन्ध में अपने को प्रगतिवादी कहने
वालों की इस नास्तिकता से बढ़ कर आश्चर्यजनक बात और
क्या हो सकती है ?

जो कुछ और जैसा कुछ इतिहास उपलब्ध है उसी को देखा
जाय तो पता चलेगा कि उसमें हिंसा की विफलता के उदाहरण
उसकी सफलता के उदाहरणों से कम नहीं, अधिकही मिलते हैं।
यह दूसरी बात है कि हिंसा के प्रति अपने मूढ़ग्राह के कारण
हम उसकी विफलता के उदाहरणों की ओर दृष्टिपात ही न करें।
परन्तु यदि हम अनासक्त बुद्धि से, शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति से
विचार करें तो वही दशा होगी जो डार्विन के जीवन-संघर्ष के
सिद्धान्त की हुई थी। प्रकृति के एकाङ्गी पर्यवेक्षण से डार्विन ने
प्रचुर प्रमाणों द्वारा जीवन-संघर्श के सिद्धान्त का प्रतिपादन
किया। उसी प्रकृति का पर्यवेक्षण करके उससे कहीं अधिक
प्रचुर प्रमाणों द्वारा प्रिंस क्रोपाट्किन ने यह सिद्ध किया कि
जीवन-संघर्ष का डार्विन का सिद्धान्त अर्द्ध-सत्य है और परस्पर
सेवा-सहायता का सिद्धान्त उससे अधिक सत्य है। इसी तरह
हम संसार के प्राप्य इतिहास का विहगावलोकन करें तो हमें
मालूम होगा कि उससे हिंसा की विफलता उसकी सफलता से
अधिक प्रतीत होती है।

इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर हिंसा की बर्बरता के प्रमाण मिलते
हैं। हिंसा द्वारा मानव ने अपने शासन और शोषण के नाम-
रूपमात्र को बदला है, शासन-शोषण को नहीं। इङ्गलैण्ड के

इतिहास को लीजिए—मागनाचर्टा की स्वाधीनता से आङ्गल जनता ने बादशाह की गुलामी के बदले बैरनों-सामन्तों की गुलामी अपने ऊपर थोप ली। बाद को उन्होंने सामन्तशाही का जुआ उतारा तो पूँजीवाद के इक्के में जुत गए। सिर्फ कन्धा बदला और इस समय भी यदि कभी वह लाल-क्रान्ति सफल भी हो जाय तो उन्हें पूँजीवाद के इक्के से निकल कर कम्यूनिस्टपार्टी वग़ैरह की रिक्शा खींचनी पड़ेगी! इन सब परिवर्त्तनों में जनता का शोषण और उसके ऊपर दूसरों के शासन का अन्त कहाँ और कब हुआ?

इतिहास से हमें यह भी मालूम होता है कि हिंसा का परिणाम न केवल स्थायी ही नहीं होता बल्कि उससे और भी अधिक हिंसा की उत्पत्ति होती है। रूस के इतिहास को ले लीजिये। वहाँ जार के हिंसात्मक दमन ने बोल्शेविक हिंसा को जन्म दिया और बोल्शेविक हिंसा की प्रतिक्रिया यूरुप में फासिस्मों और नात्सियों के हिंसा के रूप में प्रकट हुई।

तीसरी शताब्दी के दोनों महायुद्धों के परिणामों की ओर देखिए। पहला महायुद्ध सदा के लिए युद्धों का अन्त करने के लिए हुआ था परन्तु उसके परिणाम स्वरूप बीस बरस के बाद ही उससे कहीं अधिक उग्र और घातक तथा नाशक महायुद्ध का जन्म हुआ। हिंसा द्वारा हराये जाने पर जर्मनी बीस बरस में ही इतना प्रचंड हो गया कि वह दिग्विजयी होते-होते रह गया।

इस महायुद्ध के परिणाम अभी से स्पष्ट दीखने लगे हैं। इङ्गलैंड अमेरिका और रूस तीनों के युद्धोद्देश इतने संकीर्ण और

कपटपूर्ण हैं कि उनसे किसी को कोई आशा या किसी प्रकार का भ्रम नहीं है कि पूंजी वाद और साम्राजवाद दोनों में दुर्दमनीय दर्प साफ दिखाई दे रहा है। चर्चिल ने खुल्लमखुल्ला यह ऐलान किया कि मैं साम्राज्य का प्रधान मन्त्री साम्राज्य का दिवाला निकालने के लिए नहीं हुआ हूं। हिन्दुस्तान में चर्चिल की क्रूरता किसी नात्सी और फासिस्ट से कम नहीं। उसने अतलांटिक चार्टर को भी महज मजाक बना दिया। लेकिन रूजवैल्ट और उसकी अमेरिका ने उफ तक नहीं की। चर्चिल ने भारत के मामले में नेक सलाह देने के लिए च्यांकाईशेक और अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवैल्ट के जाती दूत फिलिप साहब का घोर अपमान किया लेकिन रूस और अमेरिका किसी ने चूँ तक नहीं की, बल्कि इङ्गलैण्ड में अधिकारी कम्यूनिस्ट नेता ने पौलैण्ड के मामले में यह कहा कि जब रूस हिन्दुस्तान के मामले में ब्रिटेन से कुछ नहीं कहता तो ब्रिटेन पोलैण्ड के मामले में क्यों दखल देता है? चर्चिल ने यह भी कहा कि हम अपने समस्त साम्राज्य को अपने शिकञ्जे में ज्यों का त्यों जकड़े रहेंगे। १९४४ में सीरिया के प्रति पराजित फ्राँस के भागे हुए नेता डा० गौले ने जो सड़ी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति प्रदर्शित की थी वह किसे नहीं मालूम? युद्ध में जर्मनी हारता दीखता है सम्भव है हिटलर को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ें परन्तु इससे हिटलर-शाही थोड़े ही मरेगी। वह हिन्दुस्तान के नौकर-शाही और ब्रिटेन के साम्राज्यवादियों में सहस्रशः गुनी होकर प्रकटेगी! जर्मन-राष्ट्र और जर्मन जनता के प्रति इङ्गलैण्ड और अमेरिका का ही नहीं

रूस का भी क्रूरतापूर्ण और प्रचण्ड प्रतिहिंसात्मक रुख इस बात का अचूक प्रमाण है कि पाश्चात्य देशों की मनोवृत्ति आज भी उतनी ही पशुता-पूर्ण है जितनी विगत महायुद्ध की समाप्ति के समय थी। परिणाम स्वरूप निकट भविष्य में ही इस महा-युद्ध से अधिक घातक और संहारक युद्ध अवश्यम्भावी है। अभी से संसार के अनेक विचारक इस युद्ध की भविष्य-वाणियाँ करने लगे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हिंसा से ही काम लिया जातारहा तो एच. जी. वेल्स की यह भविष्यवाणी सच सिद्ध होगी कि वानर-नर अपनी जाति और अपनी सभ्यता को सर्वथा विनष्ट करके ही मानेगा। इन बातों से हिंसा की व्यर्थता अन्धों और बहरों को भी सूर्य के समान प्रत्यक्ष हो जानी चाहिये।

आज-कल की अवस्थाओं में व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर भी यह मालूम होगा कि हिंसा द्वारा शक्ति प्राप्त करने का कार्य-क्रम लगभग असम्भव ही है। जिस विज्ञान की हमारे ये मार्क्सवादी और भौतिकतावादी आलोचक बहुत दुहाई देते हैं वह शोषकों और शासकों की पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की लौंडी बना हुआ है। उसके आविष्कारों की कृपा से शासकों के हाथ में संसार भर में इतनी संहारक शक्ति केन्द्रित हो गई है कि जन-विद्रोह और जन-क्रान्तियाँ सार्वजनिक आत्मघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लैनिन के समय तक तो विद्रोही सेना के क्रान्तिकारी जनता से मिल जाने पर हिंसात्मक क्रान्ति सम्भव भी थी परन्तु अब धूर्त्त शोषकों और शासकों ने सैनिकों की आर्थिक समस्या को हल करके उन्हें अच्छे वेतन देकर सेना

के वि ेही होने के लिए आवश्यक लैनिन की इस शर्त का पूरा होना प्रायः असम्भव कर दिया है कि सेना को माहवारी वेतन न मिले। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस बात का भी प्रबन्ध कर लिया है कि सेना में जाग्रत और सचेत क्रान्तिकारी जन-वर्ग का आधिपत्य न होकर क्रान्ति-विरोधी टुटपुँजिये वर्ग का प्राधान्य हो। आज-कल की स्थल-सेना को हवाई जहाज सहज सहज ही परास्त कर सकते हैं और हवाई जहाजों में चालकों की नियुक्ति में इस बात की पूर्ण सावधानी रक्खी जाती है कि वे क्रान्ति-विरोधी, प्रतिक्रियावादी, तथा जड़तावादी वर्ग के हों। अभी हाल में युद्ध-काल में ही ग्रीस और बेल्जियम में जाग्रत तथा क्रान्तिकारी जन-वर्ग को किस प्रकार कुचल दिया गया। यह कौन नहीं जानता ?

हिन्दुस्तान की राजनीति के पिछले पचीस वर्षों के इतिहास पर नजर डालिये। यहाँ सिद्धान्ततः अहिंसा का विरोधी कौन नहीं है ? मुस्लिम-लीगी, हिन्दू महासभाई, फारवार्ड ब्लाकी, लिबरल लीगी, समाजवादी, किसान-सभाई, खाकसार और कम्यूनिस्ट सभी तो अहिंसा का मजाक उड़ाते हैं। लेकिन व्यव-हार में कम्यूनिस्ट और समाजवादियों ने हिंसा से सफलता प्राप्त करना तो दूर कब और कहाँ उसका प्रयोग कर के पथ-प्रदर्शन किया ? लखनऊ में मदहे साहिबा और तबर्रा के मामले में तथा शहीदगंज मस्जिद के मामले में मुस्लिम लीगियों का हिंसक शौर्य कहाँ चला गया था ? हैदराबाद के मामले में हिन्दू महा सभाइयों की हिंसा कहाँ पलायन कर गयी थी ? अप्रैल

१६४० के अपने सत्याग्रह के समय फारवार्ड ब्लाकियों और किसान-भाइयों की हिंसा किस गिरि-गुहा में जा छिपी थी ? पंजाब में खाकसारों की हिंसा किस जंगल में जा छिपी थी ? इन और ऐसे दलों में से किसी एक ने भी अभी तक सार्वजनिक हिंसा का प्रदर्शन करके क्यों नहीं दिखाया ? अकाली सिक्ख तो सैनिक जाति के हैं, उन्होंने गुरु द्वारा सुधार के लिए अहिंसा से काम क्यों लिया ? मुन्शी पेठा वगैर: में मराठों को अहिंसात्मक सत्याग्रह की क्यों शरण लेनी पड़ी ? हिंसा के प्रति अपने विश्वास को लिए जगत्प्रसिद्ध सरहदी पठानों के अनन्य नेता सरहदी गान्धी अब्दुलगफ्फारखाँ अहिंसा पर वर्किङ्ग कमेटी के सब सदस्यों से ज्यादा जोर क्यों देते हैं ? भारत के प्रगतिशील, संघर्षमय और क्रान्तिकारी पचीस बरस के इतिहास के सब तथ्य और सत्य हमें क्या शिक्षा दे रहे हैं ? हम यह क्यों भूल जाते हैं कि प्रश्न हिंसा-अहिंसा के आदर्शों की कभी समाप्त न होने वाले सैद्धान्तिक विवाद का नहीं, व्यावहारिक जीवन में, वर्त्तमान अवस्थाओं में, अपनी राजनीति में उनके प्रयोग का है। और प्रयोग की दृष्टि से अहिंसा ऐसी ऐतिहासिक आवश्यकता है कि सब को झक मार कर उसी से काम लेना पड़ता है।

यह भी स्पष्ट है कि सच्चे लोकतन्त्र और मानव-व्यक्तित्व का विकास शान्तिमय अहिंसात्मक समाज में ही सम्भव है। प्रो० सीली लिखित राजनीति की ओलम से भी यह बात जानी जा सकती है। हिंसा सच्ची स्वाधीनता के सर्वथा प्रतिकूल है। वह सदैव मानव-रक्त से सनी रहती है।

अनेक मार्क्सवादी विचारक यह मानने लगे हैं कि समाजवाद की स्थापना भी शान्तिमय उपायों से ही सम्भव है। यूरुप और अमेरिका के लगभग सभी समाजवादी मार्क्सवादी इसी विचार के हैं और एक सोवियत रूस को छोड़ कर दूसरे सब देशों में इन समाजवादियों का प्रभाव कम्यूनिस्टों से कम नहीं अधिक ही है।

राजनीति का व्याकरण (Grammar of politics) नाम की पुस्तक के दो सौ उन्तालीसवें पृष्ठ पर प्रो० हैरोल्डलास्की ने सक्रिय घृणा और हिंसा को व्यर्थ बताते हुए स्वीकृति अथवा सहमति द्वारा क्रान्ति के मार्ग का समर्थन किया है। यह मार्ग महात्मा गान्धी के हृदय-परिवर्त्तन के अलावा और क्या है? उत्तर है तो केवल यह कि हृदय-परिवर्त्तन को आदर्श और उसकी प्रक्रिया के सामने प्रो० लास्की की उक्ति निस्तेज और निर्जीव सी मालूम होती है।

घृणा की निन्दा करते हुए प्रो० लास्की ने लिखा है कि घृणा जिस हृदय में निवास करती है उसका नासूर बन जाती है। घृणा करने वाले में वे सब बुरी बातें पैदा होती हैं जिनके कारण वह दूसरे से घृणा करता है। प्रो० लास्की का कहना है कि हिंसा द्वारा सफलता प्राप्त करने वाले विजेताओं का प्रभाव भी अहिंसा मार्ग के असफल लोगों से अधिक नहीं होता। पूरब में बुद्ध का और पश्चिम में ईसा का जितना प्रभाव है उतना किसी विजेता का नहीं। स्वतन्त्रता-संग्राम की रण-कौशल की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि लोगों की लोक-तन्त्र द्वारा प्राप्त

सम्पत्ति के हल अन्त में उस हल से कहीं अधिक स्थायी सिद्ध होता है जो दबाव तथा हिंसा द्वारा पूरा करना पड़ता है।

रूजवेल्ट और चर्चिल को भी अटलांटिक घोषणा में अहिंसा के सामने सर झुकाना पड़ा था। उन्होंने कहा था कि "वास्तविक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के कारणों से संसार के सभी राष्ट्रों को पशु-बल का प्रयोग छोड़ना पड़ेगा।"

मशीनें पूँजीवाद की नाड़ियाँ होती हैं। वे मानव को अपने घरेलू धन्धों आदि से बाहर निकाल कर समस्त सम्पत्ति और शक्ति को थोड़े से लोगों के पास केन्द्रित कर देती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्राम-वाद, गान्धीवाद और किसान-राज पर किए जाने वाले आक्षेप कितने निराधार हैं। इसके विपरीत, ग्राम-वाद, गान्धीवाद और किसान-वाद को प्रगति-विरोधी तथा प्रतिक्रियावादी कहने वालों के असली रूप को, उनके सिद्धान्तों और कार्यों को देखा जाय तो इस बात में किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं रहता कि ये लोग मार्क्सवादी, साम्यवादी और समाजवादी किसानों के विरोधी, उनके शत्रु होते हैं।

मार्क्सवादियों की राय में किसान टुटपुंजिये, मूढ़ विश्वासी और प्रगति-विरोधी होते हैं। मार्क्सवादी, गाँवों को नष्ट करके शहरों को बसाने तथा उद्योग-वाद के बड़े बड़े कारखानों में बड़े पैमाने पर माल तैयार करने के पक्षपाती होते हैं। बोल्शेविकों की राय है कि गाँव अन्धकारमय तथा बहरे होते हैं शहरों द्वारा उनको सभ्य बनाए जाने की ज़रूरत है। किसान सदैव समाज-

वादी आदर्शों के विरोधी होते हैं और कभी कभी कम्यूनिस्ट सरकार को मार्क्सवादी सिद्धान्तों को ताक पर रखने के लिए विवश कर देते हैं। कम्यूनिस्ट रूस में किसान न तो चुनावों में अपने उम्मेदवार ही खड़े कर सकते हैं न किसान-सभा ही बना सकते हैं। मार्क्सवादी किसानों के घरेलू-धन्धों को नष्ट कर देना चाहते हैं। मार्क्सवादी ग्राम-स्वराज्य के, किसान-राज के कट्टर शत्रु होते हैं। इन्हीं कारणों से रूस के किसान वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी की तानाशाही को पसन्द नहीं करते। यदि लैनिन ने बुद्धिमत्तापूर्वक, मार्क्सवाद के कृषि के राष्ट्रीयकरण सिद्धान्त को ताक पर रख कर 'जमीन किसानों की' इस सिद्धान्त को न स्वीकार किया होता तो रूस के किसान कुछ ही महीनों में सोवियत शासन को धूल में मिला देते।

किसान मार्क्सवादियों के वैयक्तिक सम्पत्ति के विनाश के सिद्धान्त को तथा भूमि के राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त को कदापि स्वीकार नहीं कर सकते। भूमि के प्रति प्रेम तथा अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए आवश्यक वैयक्तिक सम्पत्ति तथा मानवी स्वाधीनता का भाव उनकी रग रग में कूट कूट कर भरा हुआ है। रूस के किसान मध्यम श्रेणी के टुटपुँजिये वर्ग के ही थे। उनमें मध्यवर्ग का वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रेम पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। किसानों की इसी मनोवृत्ति के कारण १६४२ तक सोवियत रूस को जमीन पर किसानों का दमामी दखल तथा उनकी मौत के बाद वारिसों का हक़ छः साल तक पट्टे पर उठाने का व कुछ सीमाओं के साथ मज़दूरों से काम लेने का अधिकार

भी मिला हुआ है। केवल बेचने व गिरवीं रखने का अधिकार नहीं है।

चतुर लैलिन ने किसानों की इस मनोवृत्ति पर दृष्टि रख कर हुशियारी से काम लिया। उसकी नई आर्थिक नीति ने मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का श्राद्ध करके किसानों की इस मनोवृत्ति के सामने सर झुकाया। स्तालिन ने "लैनिनवाद" नामक पुस्तक में लिखा कि किसानों के सम्बन्ध में लैनिन की नीति यह थी कि ज़ारशाही और पूँजीपतियों के खिलाफ किसानों की मदद लेने के लिए जमींदारों के खिलाफ सब किसानों की मदद करो और जब किसानों की मदद से मज़दूरशाही के नाम पर कम्यूनिस्टों की तानाशाही कायम हो जाय तब ग़रीब किसानों को इस बात के लिए उकसाओ कि वे आसूदा किसानों से अलग संगठन करें और फिर इन ग़रीब किसानों की मदद से यानी किसानों में फूट डाल कर समस्त आसूदा किसानों को नष्ट कर दो। इसके बाद खेती के मज़दूरों और ग़रीब किसानों में फूट डाल कर अपनी तानाशाही के बल पर ग़रीब किसानों का भी खातमा कर दो—उन्हें सर्वहारा कुली मज़दूर बना डालो और इस प्रकार सब जनता को सर्वहारा सम्पत्तिहीन मज़दूर बनाकर सब श्रेणियों को नष्ट करके श्रेणीहीन समाज की स्थापना करो।

प्रमाण लीजिए—लैनिन ने पहले कहा था कि हम पूँजीपति जमींदारों की तरह "कुलकों" (रूस के आसूदा किसानों) से यह नहीं कहते कि तुम अपनी समस्त सम्पत्ति से वञ्चित कर दिए जाओगे। बाद को, ये ही कुलक अपनी कुल सम्पत्ति से इस

क्रूरता के साथ वञ्चित किये गये कि उनके बाल-बच्चों के करुणा-क्रन्दन को सुन कर छोटे-छोटे किसानों और गाँव वालों की आँखों से बरबस अश्रु-धारा बहने लगती थी। स्टालिन ने अगस्त १९१७ में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के सामने अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए कहा था कि "यदि किसानों के दिल से उच्च वर्ग और निम्न-वर्ग के लोगों के समझौते का ख्याल न निकाला गया तो हमें कष्ट भोगने पड़ेंगे और क्रान्ति विफल हो जायगी।" सामूहिक खेती में आर्टलला का प्रचार भी केवल चालबाजी, मौका-परस्ती है। असली उद्देश पूर्ण कानून की स्थापना है। लेकिन किसानों के विरोध के कारण उस काम को धीरे-धीरे करना है मार्क्सवाद का अन्त में किसानों को कुली बनाने का उद्देश और आदर्श इतना स्पष्ट है कि जब लैनिन और स्टालिन ने इन आदर्शों के प्रति रूस के किसानों के विकट विरोध को देखकर अपनी सामयिक नीतियों में उल्लिखित परिवर्तन किये तब सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी मार्किस्टों ने न केवल इनका विरोध ही किया बल्कि उनमें से कुछ ने तो इनकी इस नीति से व्यथित होकर उसे मार्क्सवाद के प्रति विश्वास घात समझ कर निराशा की झोंक में आत्म-हत्याएँ तक कर डालीं।

तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के कार्यक्रम में यह साफ साफ कहा गया है कि प्रोलिटेरिएट के लिए यह लाजिमी है कि वह मध्य-वर्गीय किसानों को तटस्थ कर दे तथा उनके साथ टिकाऊ मेल करे परन्तु किसी भी हालत में उनके साथ शक्ति (शासन) में साझा न करे। किसानों को

कितनी जमीन हस्तान्तरित की जाय इसका फैसला इस बात को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिये कि हमें किसानों को पहले तटस्थ कर के फिर प्रोलीटेरिएट के पक्ष में करना है।

स्पष्ट है कि मार्क्सवादी, किसानों को अपने से--मजदूरों से--अलग समझते हैं, अपने मतलब के लिए उनसे मेल करते हैं लेकिन हर हालत में अभी एक दम तानाशाही कायम करना और अन्त में किसान वर्ग को नष्ट कर के किसानों को कुली--सम्पत्ति हीन सर्वहारा बनाना--ही उनका मुख्य उद्देश है। मार्क्स-वादियों का कहना है कि लोकतन्त्र में पूँजीपतियों और सर्व-हाराओं का भाग्य मध्यवर्ग के (किसानों) के हाथ में होता है और ये सम्भवतः क्रान्ति के समय प्रतिक्रियावादी सिद्ध होते हैं। जब कि सोविएत शहरी और देहाती मजदूरों तथा सिर्फ गरीब से गरीब किसानों की डिक्टेटरशिप होती है। लैंडलर साहब ने अपने "समाजवादी विचारों के इतिहास" नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में ५१६ वें पृष्ठ पर लिखा है कि सर्वहाराओं की डिक्टेटरशिप रूस में असफल हुई क्योंकि वह कारखानों के मजदूरों के हितों पर किसानों के हितों को निछावर कर देती थी। अन्त में ये मजदूर किसान सरकार बनानी पड़ी। यद्यपि लैनिन की राय है सर्वहाराओं और गरीब से गरीब किसानों की क्रान्तिकारी लोक-तन्त्रीय डिक्टेटरशिप प्रोलीटेरियट की डिक्टेटरशिप नहीं है। कार्लमार्क्स की शिक्षाएँ नामक पुस्तक में लैनिन ने किसानों को मध्यवर्गीय माना है। उसका कहना है कि किसान जमीदारी व

सामन्तशाही के हटने पर सन्तुष्ट हो जाते हैं और व्यवस्था की ओर चले जाते हैं वे बहुत ही कम अवस्थाओं में बुरजुआई उदार वाद और मजदूर-लोक तन्त्रों में चुनाव करने में हिचकते हैं। मार्क्स की मुख्य शिक्षा यही है कि समाजवादी समाज की सृष्टि प्रोलीतैरियत ही कर सकते हैं। १८५० में कम्यूनिस्ट लीग में भाषण देते हुए स्वयं कार्लमार्क्स ने कहा था कि मानव समाज में प्रोलीतैरीएत ही एक मात्र क्रान्तिकारी वर्ग है। बुर्जुआँ लिए लोकतन्त्री जोतने वाले किसानों को जमीन पर वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार दे देंगे और इस प्रकार बुर्जुआँ लिये किसान वर्ग की सृष्टि करेंगे। मजदूरों को इसका विरोध करना चाहिये खेती के मजदूरों (प्रोलीतैरियत) के हितों में। बोल्शेविकों के मतानुसार गाँव अज्ञानान्धकार आवृत्त तथा बहरे होते हैं। शहरों द्वारा उनको "सभ्य" बनाये जाने की जरूरत है। उनका उद्देश किसानों को साँस्कृतिक दृष्टि से और आर्थिक दृष्टि से शहरी बनाना, किसानों को मजदूर बनाना तथा किसानों की रीति रिवाजों व उनकी वेश-भूषा का अन्त करना है। जान-मैनार्ड ने रूसी किसान पृष्ठ ३२८-४३१ में लिखा है कि किसान सदैव समाजवादी आदर्शों के लिए खतरा है। कभी-कभी वे सोवियत सरकार को समाजवादी नीति से हटने को विवश कर देते हैं। यही कारण है कि सोवियत रूस में किसानों को न तो चुनावों में किसान-उम्मेदवार खड़े करने का अधिकार है न किसान सभा बनाने का।

सोवियत रूस का इतिहास इन बातों के प्रमाणों से किसानों

के साथ दुर्भाँति से, किसानों द्वारा अपने ऊपर होने वाले अन्यायों के प्रतिकार के प्रयत्नों से तथा कम्यूनिस्ट तानाशाही द्वारा किसानों के क्रूर-दमन की काली कथाओं से भरा पड़ा है। किसानों के प्रति कम्यूनिस्टों की इस दुर्भाँति ने प्रथम सोविएत शासन-विधान तक में स्थान पाया। उसमें मजदूरों को पचीस हजार पीछे एक प्रतिनिधि दिया गया, किसानों को सवा लाख पीछे एक। इस तरह एक मजदूर को पाँच किसानों के बराबर घोषित कर के बहुसंख्यक किसानों पर अल्पसंख्यक मजदूरों का बहुमत कर दिया गया। ऐसा अन्याय तो हिन्दुस्तान में मूर्खता का अछूत मानी जाने वाली जातियों के साथ भी नहीं होता। यह अन्याय १९३६ तक होता रहा। इस समय तक कम्यूनिस्तों की इस काली नीति से संसार भर के किसान उनके विरुद्ध हो गये थे। पहले मुसोलिनी ने इटली में और अन्त में हिटलर ने जर्मनी में कम्यूनिस्टों के खिलाफ किसानों को अपनी तरफ मिला कर वहाँ के कम्यूनिस्टों को कुचल दिया तब झकमार कर हिटलर के डर से सोवियत ने अपने विधान के इस काले भाग पर सफेदी कर दी।

रूस में दुर्भाँति (Discrimination in Russia) पुस्तक में लेखक ने लिखा है कि यह वर्णनातीत अत्याचार भारी सामाजिक अनाचार था।" रूस के किसानों में वहाँ की कम्यूनिस्ट सरकार की इस अनीति के प्रति घोर असन्तोष था। सोवियतों और किसानों की तीसरी अखिल रूसी कांग्रेस में एक किसान प्रतिनिधि ने वहाँ की कम्यूनिस्ट

सरकार के प्रति किसानों के असन्तोष को इन शब्दों में व्यक्त किया था—"जमीन किसानों की है लेकिन रोटी आपकी। सर-सरिता किसानों के हैं मछलियाँ आपकी। जङ्गल किसानों के हैं लकड़ी आपकी।" और यह तो तब था जब बेचारे किसान कम्यूनिस्ट सरकार के अन्यायों और अत्याचारों के प्रति अपना रोष तथा क्षोभ प्रकट करते हुए इस डर से हिचकिचाते थे कि इनकी सरकार के खत्म होने पर कहीं जमींदारों का राज न आ जाय। फिर भी किसानों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए असहयोग के अमोघ अस्त्र से काम लिया। उन्होंने कम्यूनिस्ट सरकार को सक्रिय सहायता देना बन्द कर दिया। न केवल वे रूस पर श्वेत रूसियों के आक्रमण के समय ही शुरू में चुप रहे परन्तु उन्होंने कम्यूनिस्ट सरकार और उसके आधार तथा लाड़ले शहरी मजदूरों के लिए अन्न का उत्पादन करना बन्द सा कर दिया। किसानों की इस शक्ति को देख कर ही विक्टर चर्नोव (Chernov) ने यह कहा था कि रूस के असली धींग स्वेच्छाचारी (Autocrate) तो किसान है। नाज और ईंधन की पूर्ति उनके हाथ में होने के कारण वे कम्यूनिस्ट सरकार और उनके शहरी मजदूरों को भूखों मार सकते हैं। किसानों के इसी असहयोग से विवश होकर लैनिन ने युद्धीय (War) कम्यूनिज्म को छोड़ कर नई आर्थिक नीति की घोषणा की। इस नई नीति में किसानों की कृषि के छुटपुँजियेवाद को काफी स्वाधीनता दी गई। किसानों का वैयक्तिक सम्पत्ति का तथा वैयक्तिक व्यापार का अधिकार बहुत हद तक मान लिया गया।

अक्टूबर १९२२ में लेनिन ने स्वयं यह स्वीकार किया कि "नई आर्थिक नीति महान पराजय के बाद अस्थाई पुनरावर्त्तन है, वह समाज वाद नहीं है।" १९२४ में स्वयं स्तालिन को इस सत्य की घोषणा करनी पड़ी कि समाजवाद की सफलता के लिए अकेले किसानों के देश रूस का ही उद्योग पर्याप्त नहीं है। १९२४–२५ में स्वयं स्तालिन ने किसानों को यह अधिकार दिया कि वे अपने खेत पट्टे पर उठा सकते हैं और मजदूरों से खेती का काम करा सकते हैं। रूस की कम्यूनिस्ट सरकार को विरोधी किसान वर्ग की शक्ति के कारण पञ्च-वर्षीय योजना का श्रीगणेश कराने के लिए आठ बरस की लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी थी।

कम्यूनिस्ट नौकरशाही द्वारा किसानों पर किये गये अन्यायों और अत्याचारों को दादा कालविन ने इन शब्दों में स्वीकार किया है—"कई जगह खाद्य संग्रह करने वाले अफसरों ने किसानों का सब माल उनके भुस का अन्तिम तिनका तक ले लिया। अब तक शहर वालों ने किसानों की रोटी का उपभोग मुफ्त में बिना कुछ एवज दिये किया है।" किसानों के बच्चे तक इस भेद-भाव को जानते थे। वे कहते थे "हम सोवियत नहीं, हम तो किसान हैं।" कम्यूनिस्ट सरकार और शहर वालों से किसानों की यह शिकायत थी कि वे हमारी रोटी तो छीन ले जाते हैं लेकिन उसके बदले में हमें, न तो तैयार माल देते हैं, न औजार ही और न हमारे औजारों की मरम्मत ही कराते हैं।

कम्यूनिस्टों की सरकार किसानों की पैदावार को मनमानी

कीमत पर खरीदती थी। इस मामले में वह बेचारे किसानों की एक नहीं सुनती थी। इस अन्याय से तथा अपने परिवार को भूखों मरने से बचाने के लिए किसान अपना नाज छिपा देते थे। कम्यूनिस्ट सरकार ने सामूहिक खेती का प्रचार जिन उद्देशों से किया उनमें से एक यह भी था कि कम्यूनिस्ट सरकार किसानों से मालगुजारी आसानी से वसूल कर सके और उसकी तथा शहरी लोगों की खाने की कठिनाई दूर हो जाय।

इसी उद्देश से १९२७ से रूस की कम्यूनिस्ट सरकार ने किसानों के प्रति फिर क्रूरता का रुख अख्तियार किया। उस साल दिसम्बर में खेत पट्टे पर उठाने तथा मजदूरों से खेती का काम कराने पर रोकें लगीं। जनवरी १९२८ में आमूदा किसानों को ग्राम-सोवियतों (ग्राम-पञ्चायतों) से निकाल दिया गया। मार्च १९२८ में नाज के डिक्टेटर की नियुक्ति हुई। जनवरी १९३० में खेती के पूर्ण सामूहिक-करण तथा कुलकों के मूलोच्छेद बीज-देश-विनाश की नीति की घोषणा की गई। पचास लाख किसान इस नीति के शिकार हुए। उनकी सब जायदाद तथा सम्पत्ति छीन ली गई और उन्हें उनके घरों से निकाल दिया गया। स्वभावतः इस नीति के प्रयोग में घोर अनाचार भी हुए। जैसे हिन्दुस्तान में १९४२ से ४४ तक जिस किसी से कोई हुक्काम नाराज हो जाता उसी को युद्धोद्योग का बाधक बता कर डी० आई० आर में धाँग दिया जाता था उसी तरह रूस में भी उन दिनों जिस किसी किसान से कम्यूनिस्ट हाकिम नाखुश हो जाता उसी को कुलक करार देकर उसका माल-मता छीन कर

उसे घर से निकाल दिया जाता था। इसी डर से बेचारे किसानों ने इस आसूदा किसान-विनाशक नीति का विरोध नहीं किया यद्यपि एक विद्यार्थी ने "रूस माता" के लेखक सुविख्यात सोवियट भक्त मौरिस हिन्दस से यह कहा था कि हर किसान अपने अन्तस्त के कुलक (आसूदा किसान) होना चाहता है। आसूदा किसान बनने की इच्छा हर किसान की हड्डी-हड्डी में समाई हुई है।" जब कुलकों पर ये अमानुषिक अत्याचार होते थे तब उनके परिवारों को रोता देख कर कम्यूनिस्ट-सरकार की लाल-सेना के सिपाही तक रोने लगते थे। मौरिस हिन्दस का कहना है कि बेचारे बुड्ढे किसान इतने डर गये थे कि उनके मुँह से आवाज़ तक नहीं निकलती थी और किसानों के बच्चे भूख के मारे मेरे पास आकर मुझ से भीख माँगते थे। फिर भी किसानों ने प्रतिरोध किया। उन्होंने अपने जानवर इस डर से मार खाये कि वे कम्यूनिस्ट सरकार के हाथों में न पड़ जावें। अकेले १९४१ में अस्सी लाख घोड़े इस तरह काट डाले गये। त्रास की यह तलवार जब से सामूहिक खेती किसानों पर लादी गई तब से शुरू हुई और आज तक म्यान में नहीं रखी गई। इस नीति की क्रूरता के अलावा, जोशीले और भ्रष्ट तथा जालिम कम्यूनिस्ट नौकरशाहों ने सितम ढा दिया। स्वयं स्टालिन को इस अति के विरुद्ध चेतावनी देनी पड़ी। मार्च १९२० में उसने "सफलता से मदोन्मत्त" नाम की घोषणा निकाली और जोर से सामूहिक-करण तथा चर्चों की बन्दी रोक दी। कई कम्यूनिस्ट हुक्कामों को उन जुल्मों के

कारण बरखास्त किया गया जो उन्होंने किसानों पर किये थे तथा साबित हो गये थे।

सोवियट रूस में किसानों के प्रति यह दुर्भांति अब तक जारी है। अब तक वहाँ शहरी मजदूरों को इकलौता लाड़िला बेटा और किसानों को सौतेला माना जाता है। किसानों की हैसियत मित्र सहायक Ally की है, प्रोलीतेरिएत डिक्टेटर के साथी-शासक-साथी की नहीं यद्यपि कम्यूनिस्ट सरकार को किसानों पर प्रत्यक्ष करों से मिस्टर हुवार्ड के मुताबिक कुल आमदनी का आधे के करीब ½ मिलता है। अप्रत्यक्ष कर इसके अलावा है। अवकाश-गृह और स्वास्थ्य-निकेतन केवल शहरी मजदूरों के लिये हैं, गरीब किसानों को उनमें जाने की मुमानियत है और इस भेद-भाव को साम्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। किसान-जच्चाओं को शहरी मजदूरिन-जच्चाओं का आधा भत्ता मिलता है। लाल-सेना में किसान सैनिक को शहरी सैनिक से आधा पारिवारिक भत्ता मिलता है। किसानों को काम भी शहरी मजदूरों से कहीं कठिन कमर तोड़ करना पड़ता है। ये बातें समाजवादी जान मैनार्ड ने अपनी 'रूसी-किसान' नामक प्रामाणिक पुस्तक के तीनसौ चार वें पृष्ठ पर लिखी हैं। उनका कहना है कि किसानों को कारखानों का मजदूर यानी कुली बना दिया गया है। जिस तरह हिन्दुस्तान में अंग्रेज और एङ्गलो-इण्डियन शासक जाति के माने जाते हैं उसी तरह मास्को में रूस के कम्यूनिस्टों और मजदूरों को शासक जाति का माना

जाता है। सोवियट रूस में बेचारे किसानों को किसान-सभा बनाने का कोई अधिकार नहीं है। जबकि हिन्दुस्तान में किसानों की कांग्रेस के विरुद्ध किसान-सभा बनाना यहाँ के कम्यूनिस्ट अपना जन्म-सिद्ध अधिकार ही नहीं परम पावन कर्त्तव्य समझते हैं। सोवियट रूस में चुनावों में किसानों को अपने उम्मेदवार खड़े करने तक का हक नहीं है। कानून द्वारा उनको इस अधिकार से वंचित कर दिया गया है। लेनिनग्राड के पास वहाँ के किसानों ने अपना एक उम्मेदवार खड़ा किया तो कम्यूनिस्ट उम्मेदवार ने इस काले कानून के मुताबिक उसका नामजदगी का परचा खारिज करा दिया। इस जुल्म से पागल होकर किसानों ने कम्यूनिस्ट उम्मेदवार को मार डाला। इस पर बेचारे किसान उम्मेदवार को फाँसी दे दी गई। जबरदस्ती सामूहिक खेती के खिलाफ किसानों ने जब फसल सत्याग्रह किया यानी सिर्फ इतनी ही खेती की जिसकी पैदावार से केवल उन्हीं के परिवार को खाने भर का गुजारा हो और कम्यूनिस्ट सरकार को कुछ न मिले तो स्टालिन ने अपने नामानुसार नीति बरतते हुए किसानों का यह सब नाज जबरदस्ती ले लिया। फलस्वरूप बङ्गाल में १९४३ में जो हुआ वही रूस में हुआ। बीसियों लाख किसान भूखों मर गये। यदि ऐसे किसानों के ऐसे क्रूर शत्रुओं को ग्रामवाद और किसान-राज भुक्खा-मानव नारा दिखाई दे तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?

कार्ल मार्क्स के लेखों में यत्र-तत्र किसानों के सम्बन्ध में वास्तविकता की झलक भी मिलती है। वे किसानों के सम्बन्ध

की वास्तविकता से विवश होकर अपने सिद्धान्तों में संशोधन की आवश्यकता को भी मानते हैं। परन्तु दिक्कत हमेशा उतनी मूल से नहीं होती जितनी भाष्य और टीकाओं से। कौन नहीं जानता कि निष्काम कर्मयोग के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता की अनेक टीकाकारों ने कैसी दुर्दशा की—उसे पलायन और अकर्मण्यता का घातक साधन बना दिया। संसार के इतिहास में बहुधा यह पाया गया है कि जब चेले शक्कर हो जाते हैं तब वे सारा गुड़ गोबर कर देते हैं। चेलों ने बौद्धधर्म को क्या से क्या बना दिया। अष्ट-मार्ग को किस प्रकार इन्द्रजाल और भ्रष्ट तन्त्राचार का क्रीड़ा-भवन बना दिया, यह सभी को मालूम है।

तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के प्रोग्राम में स्पष्ट निर्देश है कि चीन और भारत जैसे पराधीन या अर्ध पराधीन देशों में मुख्य काम (अ) सामन्तशाही के पूँजीवाद से पूर्व काल के ढङ्ग के शोषण का अन्त करने तथा किसान-क्रान्ति को व्यवस्थित रूप से विकसित करने का और (ब) राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए विदेशी साम्राज्य शाही से लड़ने का है। अर्थात् किसान राज की स्थापना का है, फिर भी हिन्दुस्तान के कम्यूनिस्ट ब्रिटिश साम्राज्य शाही के नाक के बाल बनने और किसान-राज के लिए लड़ने वाली एक मात्र संस्था राष्ट्रीय महासभा का सदैव विरोध करते रहने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते।

वे यह भूल जाते हैं कि आज भी किसानों में अकेले रूस के किसानों में इतनी शक्ति है कि स्वयं सोवियत रूस का भाग्य उनके खुदरे हाथों में है। १९३० के बाद आज तक स्टालिन का

यह साहस नहीं हुआ कि वह किसानों के वैयक्तिक व्यापार को रोके। किसानों को सामूहिक खेती के लिए भी तभी विवश किया जा सका जब उनका निजी खेती और निजी भूमि का अधिकार गृहोद्यानों के रूप में स्वीकार कर लिया गया। प्रत्येक किसान को निजी खेती के लिए तीन एकड़ से लेकर दस एकड़ तक जमीन दे दी गई। यह शक्ति उस किसान की है जो स्वयं निजी सम्पत्ति का प्रेमी होने के कारण दूसरों की सम्पत्ति के अपहरण को भी सन्देह की दृष्टि से देखता है।

पिछले यूरोपीय महायुद्ध के बाद यूरुप के लगभग सभी देशों में छोटे-छोटे किसानों की शक्ति बढ़ी है। उनकी भूमि पर उनका स्वामित्व स्वीकार किया गया है। सर्वत्र उनकी शक्ति बढ़ रही है। साम्यवादी और समाजवादी कहते हैं कि सामूहिक खेती के लाभों को देख कर किसान स्वयं उसे अपना लेंगे। यदि वे ऐसा करें तो इसमें किसी को आपत्ति ही क्या हो सकती है? सवाल तो किसानों की इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती उन पर भूमि का राष्ट्रीकरण लादने का है और घोर से घोर आशा-वादी भी यह नहीं कह सकता कि जिन किसानों में जमीन का प्रेम रत्ती भर भी कम नहीं हुआ तथा जिन्हें उस पर स्वामित्व मिलता जा रहा है उनको नारों और पेम्फलेटों के बल पर ब्रिटिश साम्राज्य-शाही के रहते हुए, भूमि के राष्ट्री-करण के सिद्धान्त को अपनाने के लिए तैयार करने का असामयिक प्रयत्न व्यावहारिक और वांछनीय है।

समाज-वादी विचारों का इतिहास नामक पुस्तक के अधि-

कारी लेखक आचार्य डाक्टर एच० डब्लू लैडलर ने पाँच सौ सोलह में पृष्ठ पर लिखा है कि रूस में जब जब कम्यूनिस्ट सरकार ने किसानों के हितों के विरुद्ध देश का शासन करने का प्रयत्न किया तब तब उसकी उन्नति का अवरोध हुआ ! लेकिन हिन्दुस्तान के कम्यूनिस्ट और समाजवादी बिना शक्ति के ही हिन्दुस्तान में आज ही भूमि का राष्ट्रीकरण कर देना चाहते हैं। सोवियत रूस में तीन एकड़ तक के गरीब किसान अंशतः या पूर्णत. लगान से बरी किये गये लेकिन हिन्दुस्तान में अखिल-भारतवर्षीय काँग्रेस समाजवादी दल के एक सभापति महोदय ने जिन किसानों की जोतें इतनी छोटी हैं कि उनके परिवार की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी नहीं पूरी हो सकतीं, उनको लगान से बरी करने के प्रस्ताव का विरोध किया, समाजवाद के नाम पर।

बार-बार अर्थ शास्त्र की दुहाई देते हुए हम यह क्यों भूलें कि ब्रिटेन की अठारहवीं उन्नीसवीं सदी में पूँजीवादी समाज की अवस्थाओं का अवलोकन कर के आदम स्मिथ, रिकार्डो, मिल और माल्कस ने अर्थ-शास्त्र के प्रतिस्पर्धा और मुक्त निर्बाध व्यापार पर आधारित जो सिद्धाँत स्थिर किये थे उनको संसार के हाल के चालीस साल की आर्थिक घटनाओं ने सर्वथा भ्रम पूर्ण सिद्ध कर दिया है। शहरी और औद्योगिक देशों का यह अर्थ शास्त्र ग्रामों के देश भारतवर्ष पर लागू नहीं हो सकता। अर्थ शास्त्र के सही सिद्धान्तों को भी किसी देश में लागू करते समय हमें उस देश की वास्तविक देशकाल अवस्था वहाँ के लोगों की

आदतों, उनके व्यवहार के ढङ्गों, उनकी सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं पर उस हद तक अनिवार्यतः ध्यान देना होगा जिस हद तक ये सब बातें लोगों के आर्थिक जीवन को प्रभावित करती हैं। और इन बातों की ओर ध्यान देने पर देश के अर्थ शास्त्राचार्यों की सम्मति है कि भारत की आर्थिक उन्नति की नींव गाँवों के पुनरुज्जीवन पर ही डाली जा सकती है।

विज्ञान दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति इतिहास किसी की दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि मार्क्सवादी विचार-धारा उन्नीसवीं सदी के उन सिद्धान्तों पर आधारित है जो बीसवीं सदी में गलत साबित हो चुके हैं। आज कल के मार्क्सवादी कम से कम आधी शताब्दी के पुराणखंडी हैं। उनके सत्य घिस घिस कर बेकार हो गये हैं, उनकी संस्कृति पाप-कथा के कारण मर रही है। मार्क्सवाद सोवियत रूस का राज्याश्रय प्राप्त कम्यूनिस्टों का मजहब मात्र रह गया है। एच० जी० वैल्स उन्मूलित मजदूर वर्ग से इतनी घृणा करता है कि उन्हें निष्क्रिय और निकृष्ट पशु ही न मान कर बहुत ही गन्दी, बुरी और खतरनाक चीज मानता है। हम वैल्स की इस मजदूर निन्दा से सहमत नहीं हैं। न हम किसानों की उस निन्दा से ही सहमत हैं जो मार्क्सवादी उनकी करते हैं। हां, हम किसानों को मजदूरों से बहत्तर अवश्य समझते हैं।

पाश्चात्य पार्लियामेण्टरी पद्धति से भी किसानों का काम नहीं चल सकता। उसकी लोक-हितकारी शक्तियाँ बहुत ही सीमित हैं। वह मौलिक परिवर्तनों के प्रश्नों को हल नहीं कर

सकती। ऐसी दशा में महात्मा गान्धी का अहिंसात्मक सत्याग्रह-संग्राम ही एक मात्र मार्ग रह जाता है और यदि उस पर श्रद्धा विश्वास पूर्वक चला जाय, यदि समग्र दृष्टि से उस पर विचार किया जाय तो वह राज-मार्ग सिद्ध होता है। भौतिकवादी जिस विज्ञान को वेदों से भी अधिक प्रमाण मानते हैं वह विज्ञान धर्म का प्रभाव मानव को दानव बना रहा है। पश्चिम के साम्यवादी और फासिस्त साम्राज्यवादी आपस में दानवों की तरह इसलिए लड़ रहे हैं कि किस रास्ते से हम नरक में प्रवेश करें जब कि मानव के सामने पहला सवाल यह है कि क्या हमारे लिए नरक में जाना जरूरी है और मानव का उत्तर इस सम्बन्ध में स्पष्ट और निश्चित तथा जोरदार है कि "नहीं" फासिस्त, पूँजीवादी, साम्यवादी सभी नरक की दो आधार-शिलाओं में उपयोगी करण और नौकरशाही में विश्वास करते हैं।

यूरुप में आज चूँकि धर्म का स्थान गौणातिगौण है इसी लिए वहाँ स्थायी शान्ति भी गूलर का फूल हो गई है। लोक-कल्याण के लिए आवश्यक यह धर्म-भाव किसानों में ग्रामवाद और गान्धीवाद में कूट-कूट कर भरा हुआ है। जिन्ना तक ने लीग के नवें सेशन के सभापति की हैसियत से इस बात को स्वीकार किया कि ग्राम-पंचायतें हिन्दुस्तान की लोकतन्त्रीय संस्थाओं का प्रमाण थीं। हिन्दुस्तान के किसानों में वैदिक-काल से ही राष्ट्र-भाव जाग्रत और मुखरित हो चुका था। पृथिवी-सूक्त इसका बहुत सुन्दर उदाहरण है।

कोई भी योजना बनाते समय हमें जिस देश के लिए योजना

बनाई जाय उसकी सांस्कृतिक और सामाजिक विशेषताओं पर ध्यान रखना ही होगा। और अब तो प्रतिष्ठित पाश्चात्य-विचारक भी धन्धों के केन्द्रीकरण और देशों के ग्रामीकरण के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने लगे हैं। पश्चिम के अनेक अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री आजकल इसी मत के हैं। परन्तु जहाँ अमेरिका की कम्यूनिस्ट पार्टी रूजवेल्ट की पूँजीवाद की जड़ें गहरी करने वाली नई व्यवस्था Dial का समर्थन करती है वहाँ हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी गान्धीजी की योजनाओं या ग्रामवाद और किसान-राज का विरोध करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझती है।

उद्योगीकरण का एक भारी सुफल यह होता है कि मजदूर-वर्ग जैसे पैसे का और मशीनों का क्रीत-दास हो जाता है। इंगलैण्ड के मजदूर अच्छी मजदूरी मिलने की वजह से ब्रिटेन के साम्राज्य-शाही शोषण के समर्थक हैं। समूचे मजदूर वर्ग का प्रतिनिधि (रूस) इन दिनों ब्रिटेन और अमेरिका के पैसे का दास सा बना प्रतीत होता है। भारत की स्वाधीनता के प्रश्न पर उसने जैसी चुपकी साधी वैसी किसी साम्राज्यवादी ने भी न साधी होगी।

उद्योगी-करण से नौकरशाही और शोषण की वृद्धि होती है। किसान-राज और ग्राम-वाद में शोषण का अन्त, नौकरशाही का नियन्त्रण और वितरण का स्वतः संतुलन हो जाता है। साम्यवाद, समाजवाद और पूँजीवाद एक ही थैली के

चट्टे-बट्टे हैं। सब के लिए अर्थ, सम्पत्ति ही सब कुछ हैं।

ग्रामसङ्घ वाद Syndicalism, छोटे छोटे संघवाद Guild socialism, and Anarchism और अराजकता-वाद सम्प्रदाय साम्यवादी तथा समाजवादी भी छोटे-छोटे घरेलू धन्धों की उपयोगिता पर जोर देते हैं। Modern Palitical Theory नामक पुस्तक में प्रोफेसर जैड ने और डाक्टर बोडिन ने सामाजिक चित्तवृत्ति नामक पुस्तक में इनका समर्थन किया है। पी० एच० औलयार्ट का कहना है कि 'एक दूसरे से गुँथे हुए छोटे छोटे प्रजातन्त्र ही मानव-सभ्यता की नैतिक इमारत हो सकते हैं। आदम स्मिथ, डैविड रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्र के आचार्यों तथा रचयिताओं ने और मार्क्स तथा प्रिंस क्रोपाटकिन ने भी इस बात को माना है कि मशीनी-करण की बुराइयों को दूर करने के लिए गाँवों के पुनरुज्जीवन की आवश्यकता है। मार्क्स सदरलैंड और बर्नार्डशा का भी यही मत है। प्रो० शील्ड ने Ebolution and Industrial Organisation नामक पुस्तक में यही मत प्रगट किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से अर्नैस्ट हन्ट ने लिखा है कि पाश्चात्य औद्योगिक समाज की बुराइयों को केवल समाजवाद नहीं दूर कर सकता। Ugly Civilisation नामक पुस्तक में बोरोडिन ने भी यही कहा है।

हमारे देश में नब्बे फीसदी लोग कृषि या उसके सहायक धन्धों में काम करते हैं। सिर्फ दस फीसदी उद्योग-धन्धों में। बड़े पैमाने के धन्धों में सिर्फ बीस लाख मजदूर काम करते हैं।

इनको बढ़ाया भी जाय तो अधिक से अधिक पाँच फीसदी आबादी को खपा सकेंगे। आज भी छोटे पैमाने के धन्धों तथा घरेलू धन्धों में बड़े पैमाने वाले धन्धों से कई गुने ज्यादा मजदूर काम करते हैं। १९४३-४४ की इण्डियन ईअर बुक का कहना है कि १९४४ में ब्रिटिश-भारत देशी राज्यों की कुछ शहरों में केन्द्रित सूत की मिलों में सिर्फ चार लाख तीस हजार मजदूर काम करते हैं जब कि अखिलभारतवर्षीय चर्खा-सङ्घ के उत्पादन-क्षेत्रों में पौने तीन लाख। एक करोड़ जुलाहे इनके और अराजकतावाद अलावा। पिछले तीस साल में भारत में फैक्टरियाँ चौगुनी बढ़ीं फिर भी बड़े पैमाने के धन्धों में काम करने वालों की फी सदी लगातार हर दशाब्दी में घटती ही गई। १९११ में वह ५॥ फीसदी थी। १९४१ में सवा चार फीसदी से भी कम हो गई। इससे सिद्ध है कि उद्योगी-करण से भारत में बेकारी की समस्या हल होने के बदले और भी बढ़ेगी।

हवाई जहाजों के कारण ब्रिटेन, जापान, जर्मनी भी जब धन्धों की विकेन्द्री-करण की बात सोच रहे हों और चीन की औद्योगिक समितियों ने जब चमत्कारी सफलता कर दिखाई हो तब भारत में घरेलू धन्धों का विरोध कठमुल्लापन के अलावा और कुछ नहीं हो सकता।

उत्पादन के व्यय की दृष्टि से भी घरेलू-धन्धे बहतर साबित होते हैं। हैनरी फोर्ड का कहना है कि आमतौर पर बड़े पैमाने वाले कारखाने आर्थिक दृष्टि से लाभ-प्रद नहीं सिद्ध होते। आल इण्डिया टैक्सटाइल कान्फ्रेन्स में सभापति के पद से भाषण

देते हुए सर विक्टर सैसून ने यह कहा था कि घरों में बिजली से चलने वाले करघों के धन्धे की गुञ्जाइश बहुत है। अगर इन करघों की कीमत सुलभ हो जाय तो छोटी पूँजी के इन घरेलू कारखानों से हिन्दुस्तान कपड़े की कीमत और उसकी अच्छाई दोनों में दुनियाँ के किसी भी देश से मुकाबिला कर सकता है।

यूरुप के अनेक समाज शास्त्रियों का यह भी कहना है कि मशीनें न तो कुछ सृष्टि करती हैं न कुछ उत्पन्न। फल स्वरूप मशीनों के शहरों में मनुष्यों की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति भी कम हो जाती है इसलिए जीव-शास्त्री यह कहने लगे हैं कि मानव-समाज को यदि जीवित रहना है तो उसे लौट कर गाँवों में जाना होगा।

एक अमेरिकन समाज-शास्त्री का कहना है कि अब बड़े-बड़े घने शहरों की संसार तथा मनुष्य समाज को तनिक भी आवश्यकता नहीं रही। घरेलू धन्धों और आर्थिक स्वयं पर्याप्तिता से संसार में युद्धों का अन्त भी हो सकता है। जबकि बड़े पैमाने के धन्धों के कारण इस महायुद्ध के समय के ही ब्रिटेन और अमेरिका में युद्धोत्तर बाजारों के लिए घृणित तू-तू मैं-मैं हो रही है।

जब सर विलियम बैवरिज तक की यह राय है कि इङ्गलैण्ड और अमेरिका में बड़े पैमाने के धन्धों से जो सत्यानाशी बुराइयाँ हुईं उनके अनुभव के आधार पर भारत में घरेलू धन्धे ही

बहतर रहेंगे, तब हम ग्रामों के साम्यवाद को छोड़ कर पश्चिम के शहरी साम्यवाद के पीछे क्यों दौड़ें ?

किसान-राज योजना में वे सब जन-कष्ट भी बच जायँगे जो रूस की योजनाओं में वहाँ की जनता को उठाने पड़े तथा जो सभी पूँजीवादी या पाश्चात्य योजनाओं में अवश्यम्भावी हैं। जब रूस में अभी तक कृषि में लगी आबादी कहने योग्य संख्या में नहीं घट सकी तब हम भारत में उसके स्वप्न कैसे देख सकते हैं।

हमारी इस योजना में किसान-राज की योजनाओं, पूंजी, मशीनों, और उनके विशेषज्ञों के लिए हमें विदेशों और विदेशियों की कृपा-कोर पर भी अवलम्बित नहीं रहना पड़ेगा। उसमें किस धन्धे में कितने मजदूर लगावें और उनका नियन्त्रण कैसे करें Occupational Planning की इस कठिनाई का भी सामना नहीं करना पड़ेगा और किसान-राज की योजना में हमें अपने देश के किसानों के उस प्रतिरोध का सामना भी नहीं करना पड़ेगा जिसका रूस को करना पड़ा था; जब कि केवल सरकारी समाजवाद State Socialism से देश एक मशीन बन जायगा, उसकी स्वाधीनता नष्ट हो जायगी और सरकार के सर्वाधिकार सम्पन्न हो जाने की आशंका रहेगी। इसके विपरीत यह किसान-राज की योजना सर्वथा लोक-तन्त्रीय योजना है।

पश्चिम की शहरी सभ्यता ने विज्ञान का आधार भौतिक बना कर मूल्यों के स्थान पर वस्तुओं की ओर ध्यान केन्द्रित

किया है, किसान पंथ इस उल्टी गंगा को पुनः सीधी और सही दिशा में प्रवाहित करेगा। भौतिक पदार्थों ने उनकी हलचलों ने तथा उनके संग्रह ने पाश्चात्यों के जीवन और उनके जीवनादर्शों को भौतिक ही बना दिया है, फिर भी उनकी अन्तरात्मा उससे सन्तुष्ट नहीं रहती। यही कारण है कि अध्यात्मवादी गान्धी किसान हिन्दुस्तान का मूर्त्तिमान रूप बन गया है। यही कारण है कि हिन्दुस्तान की जनता की जड़ता को दूर करके उसे जाग्रत और क्रियाशील बनाने में गान्धी ने जो अद्भुत सफलता पाई है उसकी शतांश सफलता भी किसी और क्रान्तिकारी नेता या सङ्गठन को नहीं मिली।

सत्य और इतिहास के सर्वथा प्रतिकूल ग्राम-स्वराज्य को भारत के राजनैतिक अनैक्य और तत्परिणामस्वरूप पराधीनता का कारण बताया जाता है परन्तु इस ऐतिहासिक सत्य को भुला दिया जाता है कि अर्थ को ही जीवन-सर्वस्व बताने और मानने का कुफल यह हुआ है कि मजदूर-वर्ग विशेष कर उस नेता इतने अर्थार्थी हो गए हैं कि वे सरेआम लोक, मानव और स्वयं मजदूरों के हितों को कौड़ी के मोल बेच देते हैं। समाजवाद के इतिहास में ही नहीं तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के सम्मेलन तक में इस सच्चाई का जादू सर पर चढ़ कर बोलता है।

गाँवों और किसानों में हमारे राष्ट्र की आत्मा का निवास है, अतः उन्हीं की संस्थाएँ तथा उन्हीं की व्यवस्थाएँ राष्ट्र की अन्तरात्मा को अभिव्यक्त करती हैं। उन्हीं से हमें अपने स्वाधीनता संग्राम में यह अटल, अजेय तथा सदा विजयी विश्वास मिल

सकता है कि हम ईश्वर के इंगित के अनुसार लड़ रहे हैं, योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ अथवा भीम का बल और कृष्ण की नीति हमारे साथ है अतः हमारी विजय—सत्य, धर्म और न्याय की विजय निश्चित है।

विज्ञान, विवेक और भौतिक-वाद की अन्धी पूजा, इनके सम्बन्ध में यह मूढ़ ग्राह कि इनके अलावा और इनसे परे कुछ है ही नहीं, हमारे अध्यात्मिक जीवन को दुविधा में डाल देते हैं। हमारी श्रद्धा तामसी और राजसी हो जाती है और जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही हो जाता है। यही कारण है कि विज्ञान को अपने वश में रखने के वजाय हम विज्ञान के वशीभूत हो गये हैं। यही कारण है कि बुद्धि की दुहाइयाँ देते हुए हम बुद्धि योग को, शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता को भूल ही गये हैं। परिणामस्वरूप सही कार्यों के स्रोत स्वरूपिनी सात्विक श्रद्धा तथा सही संकल्पों की शक्ति स्थिर व्यवसायात्मिका बुद्धि की वास्तविकता और समझ की शक्तियों का हममें सर्वथा अभाव हो गया है। मानव और जीवन के मूल्यों को आँकड़े पर रखने की हमारी शक्ति कुण्ठित हो गई है। हमारे हृदयों और मस्तिष्कों में हमारे कार्यों और विचारों में भेद की चौड़ी खाई बनती जा रही है।

. जुङ्ग जैसे मनोविज्ञान के आचार्य भी मानव जीवन की पूर्णता के लिए आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे उसकी आवश्यकता और उपयोगिता प्रतिपादित करते हैं। परन्तु उससे इनकार करने में हम भौतिक सहयोग का अनिवार्य अनुष्ठान मान बैठे हैं।

मनोविज्ञानी जुङ्ग यह कहते हैं कि मानव पूँजीवाद, लोकतन्त्र और साम्यवाद से घबड़ाता है, उसका त्राण और कल्याण अध्यात्मवाद से ही सम्भव है परन्तु हम सर्वथा सफल और व्यावहारिक गाँधीवाद का केवल इसलिए विरोध करते हैं कि वह सत्य और आत्मा-परमात्मा को क्यों मानता है? जुङ्ग ने यह ठीक ही कहा है कि आज मानव आधि से नहीं व्याधि से पीड़ित है। उसकी व्यथा मानसिक और आध्यात्मिक है परन्तु अपनी चिकित्सा के लिए वह महात्मा के पास न जाकर डाक्टरों के पास भटकता है। आज पाश्चात्य देशों के विचारक और समाज-शास्त्राचार्य यह कहते हैं कि पश्चिम के फासिज्म-वाद लोकतन्त्र और साम्यवाद तीनों हलचलों के विरुद्ध वहाँ विद्रोह प्रारम्भ हो गया है, तीनों को ही लोग न्यूनाधिक अपूर्ण, सदोष और बेकार अतएव परित्याज्य मानने लगे हैं। परन्तु देश में पश्चिम के अन्धानुयायियों को इन तीनों के अलावा कोई मार्ग भी नहीं दीखता। उस समय भी नहीं दीखता जब गान्धी-वाद प्रयोग और प्रदर्शन द्वारा अपनी अमोघता और व्यावहा-रिक सफलता का प्रत्यक्ष उदाहरण पगे पगे दे चुका है।

एक समय था जब मार्क्सवाद विराट अश्वत्थ का एक सुन्दर तथा स्वागतार्ह पल्लव था परन्तु अब वह सूख कर उस पीपल से टूट कर गिर पड़ा है तथा विश्व के विकास के इति-हास के कूड़े, करकट में जा मिला है। अब भविष्य ग्रामवाद, गान्धीवाद सर्वोदय और किसान-पंथ के हाथ में है क्योंकि ये

जगदीश्वर की प्रभव और उत्सृजन की प्रक्रिया के सजीव तथा सार्थक अङ्ग हैं।

हमारा अटल विश्वास है कि पाश्चात्य भौतिकवाद की निशाचरी निनाद मयी निशा का अन्त होकर शीघ्र ही सुप्रभात की शुभ वेला में आध्यात्मिक अरुणोदय होने वाला है। मानव और मानव-समाज, किसान-पंथ पर चलकर विश्वसंघ और मानव पार्लियामेंट के अपने विकट उद्देश्यों को सिद्ध करते हुए संसार में सर्वत्र सुख शान्ति लोकतन्त्र और चौमुखी स्वाधीनता की स्थापना करेगा, और उसके बाद नर से नारायण होने की तीर्थ यात्रा प्रारम्भ कर देगा।